वर्ष ३४

अंक ७

जुलाई १९५३

आंबाघाटमें कलेक्टर श्री **गुलाबराव देशमुख** माननीय भारत-महामन्त्री **श्री पं. नेहरूका** सत्कार कर रहे हैं।

फोटो— श्री. ना. वि. वीरकर, बम्बई

ज्येष्ठ २०१०

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके ६॥) रु.

विषयानुक्रमणिका

परीक्षा-विभाग

प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव

इन्दौर

दि० २९।४।५३ को संस्कृत भाषा प्रचार समिति द्वारा संस्कृत महाविद्यालयमें आयोजित विद्वानोंकी विशाल सभामें पारडी-परीक्षाके ४० विद्यार्थियोंको प्रमाणपत्र वितरण किया गया।

राष्ट्रगीतके पश्चात् कवितायें पढी गई जिसमें स्थानीय संस्कृत विद्वानोंने भाग लिया। बादमें संयोगिता गंज हायस्कूलके प्रधानाध्यापक महोदयने अपने भाषणमें संस्कृतकी महत्ता बतलाते हुए उसके प्रचार पर जोर दिया।

राजकुमार आयुर्वेदिक कालेजके प्रिंसिपाल महोदय कविराज श्री *प्रतापसिंहजीने* अपने भाषणमें कहा कि—संस्कृत प्रचारके बिना राष्ट्रमें सुसंस्कृत विचारधारा नहीं फैल सकती। अतः वंगीय विद्वानोंके अनुसार हमें प्रचारके लिये अग्रसर होना चाहिये। जिनके नाम भी उनकी समाज-सेवाके बोधक हैं जैसे— चट्टोपाध्याय, वन्द्योपाध्याय, मुखोपाध्याय आदि। आपने संस्कृत परिक्षार्थियोंके प्रोत्साहनके लिये अग्रिम परीक्षाओंमें सर्वप्रथम छात्रके लिये १११) रुपये का पारितोषिक देना स्वीकार किया।

आयुर्वेद बृहस्पति, कविराज
श्रीमान् प्रतापसिंहजी

अध्यक्ष महोदय श्री चतुर्वेदीजी ने कहा कि संस्कृत भाषा प्रचार समितिकी परीक्षायें संस्कृत शिक्षणके लिये अत्यन्त सुगम हैं, अतः उनके सहारे प्रचार अच्छी तरह हो सकता है। आपने कहा कि राष्ट्रमें जो आन्तरिक दोष एवं कलह है वे संस्कृत भाषाके सहारे ही दूर किये जा सकते हैं। आपने गीता परीक्षाएं चालु करनेके सुझावका भी समर्थन किया।

केन्द्र व्यवस्थापक महोदय श्री पं. भगीरथजी शर्मा ने बडे हरलाइसे सारा कार्य किया। इनकी इच्छा इंदोरको एक बडा एवं आदर्श केन्द्र बनानेकी है। ग्रीष्मावकाशमें *इन्दोरके आसपास अनेक नवीन केन्द्र खोलनेका आपने* संकल्प किया। इस प्रकार बडी उमङ्गके साथ यह समारम्भ समाप्त हुआ।

कनखल

१४ मई १९५३ को प्रातः ८ बजे हिन्दी महाविद्यालयमें श्री वैद्यराज पं. विष्णुदत्तजी शर्मा के सभापतित्वमें एक सुमहती सभा हुई तथा सभी छात्र व छात्राओंको प्रमाणपत्र वितरित किये गये। सभामें संस्कृतभाषाके प्रचारके विभिन्न उपाय भी निश्चित हुए। तथा गीर्वाणवाणीके अभ्युदयके लिये एक समितिका निर्माण हुआ। प्रमाण पत्र-वितरण कार्य होनेके पश्चात् केन्द्र व्यवस्थापक श्री पं. जगनन्दनजी शास्त्री काव्यतीर्थने केन्द्र विवरण पढकर सुनाया तथा पंचपुरीमें संस्कृत प्रचारार्थ आगामी वर्ष एक बृहत् संमेलन करनेका संकल्प व्यक्त किया। राष्ट्रगीतके पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

जालना केन्द्र वृत्त

"श्रीराम संस्कृत विद्यालय जालना" यह संस्था स्वाध्याय मंडल द्वारा संचालित-संस्कृतभाषा-गीता-वेद-उपनिषद्-साहित्य-परीक्षा-केन्द्रका कार्य दीर्घकालसे कर रही है। इन परीक्षाओंके लिये विद्यालय द्वारा गांवके कोने कोनेमें शिक्षणवर्ग चलाये जाते हैं। प्रति वर्ष इससे २०० से अधिक परीक्षार्थी संस्कृत परीक्षासे लाभ उठाते हैं।

दि. १७।५।५३ को श्रीराम संस्कृत विद्यालयमें इस संस्था "संस्कृत भाषा प्रचार जालना समिति" का आगामी वर्षके लिये चुनाव होकर निम्नप्रकारसे पदाधिकारी चुने गये हैं।"

अध्यक्ष—श्री. भाऊसाहेब करंदीकरजी, उपाध्यक्ष—श्री. गोपाळरावजी देशमुख, पोखरीकर, मंत्री श्री. श्रीराम-शास्त्री शेलगांवकरजी, सहायक मंत्री—श्री. जयवंतरावजी देशपांडे, व श्री बालकृष्ण सराफ, (प्रचारक) श्री. बापूदेव माळेगांवकर गुरुजी, "वेद पारीण"–कोषाध्यक्ष श्री. लक्ष्मीनारायणजी त्रिपाठी, लेखानिरीक्षक— श्री भगवान-रावजी राउतमारे एम्. कॉम्., तथा सदस्य—श्री. नागोराव नाईक, श्री. नरहरि हिस्वतकर, श्री. गोपाळराव पटवारी, श्री. रामेश्वरजी, श्री. विश्वप्पाजी. वैमरी म्यु. मे. । श्री. दी. बाबते, श्री. ल. देव, श्री. कस्तुरे शास्त्री, श्री. राजा-भाऊ कोलेश्वरजी. श्री रतनलालजी सावजी, श्री. केलकर मास्तर साहब, म्य. कन्या पाठशाला। यह प्रमुख रहेंगे।

आशा है ये नियुक्त पदाधिकारी संस्कृत प्रचार-कार्य अधिक उन्नत करेंगे।

टुंडाव

दिनाङ्क ६-६-५३ को सायं ४ बजे टुंडाव केन्द्रका प्रमाणपत्र वितरणोत्सव बडे उत्साहके साथ सम्पन्न हुआ। केन्द्रव्यवस्थापक श्री मगनलाल सी. पाठक ने इसके लिये एक बडी सभाका आयोजन किया था। सभाका अध्यक्षपद श्री रूपसंग सी. राठौड बी. ए. एल् एल् बी. ने अलंकृत किया था।

अध्यक्ष महोदयने 'संस्कृत प्रचारकी आवश्यकता' विषयपर अपना भाषण दिया। केन्द्र व्यवस्थापक महोदयने संस्कृत प्रचारार्थ एक बडे आन्दोलनकी आवश्यकता बतलाई। अन्तमें उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंको प्रमाणपत्र एवं पारितोषिक प्रदान किये गये।

इस अवसरपर एक प्रतिष्ठित नागरिककी ओरसे कार्य-कर्ताओंको अल्पोपहार कराया गया और अन्तमें सबको धन्यवाद देकर कार्यक्रम समाप्त किया गया।

'श्री केशव पारितोषिक'

जालनाके केन्द्र व्यवस्थापक श्रीराम शास्त्री शेलगांव-करजी सूचित करते हैं कि—

'जालनाके सर्वश्रेष्ठी श्रीमान् कचरुलालजी पुसा-रामजी दायमा ने स्वाध्यायमण्डल द्वारा संचालित संस्कृत परीक्षाओंमें जो परीक्षार्थी (विशारद परीक्षामें-भारतमें) प्रथम आएगा उसे १०) रु. प्रति सत्र दिये जाएंगे। इस पुरस्कारका नाम 'श्री केशव पारितोषिक' रहेगा।'

हम इस सहयोगके लिये श्री कचरुलालजी पुसारामजी दायमाका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

परीक्षामन्त्री

आगामी परीक्षायें

संस्कृत भाषा परीक्षाओंकी आगामी तिथियाँ

१– आगामी परीक्षा	दिनाङ्क	२९–३० अगस्त ५३ ई.
२– आवेदन पत्र भरनेका	,,	४ जुलाई ५३ ई.
३– पारडी कार्यालयमें भेजनेका	,,	११ जुलाई ५३ ई.

हमारी आशामयी प्रगति

सम्पूर्ण भारतमें कुछ समय पूर्व हमने संस्कृत-भाषा-प्रचारके लिये एक योजना बनाई थी। इसकी प्रगतिका विवरण देनेसे पूर्व इस भाषाके विषयमें निम्नाङ्कित चार शब्द लिख देना उचित प्रतीत होता है। वैसे तो भारतीयोंका कदाचित ही कोई ऐसा समारम्भ हो, जहाँ संस्कृतका आदर एवं उसकी आवश्यकता न पडती हो। प्रत्येक भारतीय गृहस्थमें (वह चाहे जिस सम्प्रदायको माननेवाले हों) संस्कृत भाषाके बिना काम चलता ही नहीं है। प्रातः सायं प्रभुकी प्रार्थना, वन्दना, आरती आदि संस्कृतमें ही होती हैं। हमारे सम्पूर्ण उत्सवोंमें, चाहे वह विवाह सम्बन्धि हो, जन्म सम्बन्धि हो, सत्कार सम्बन्धि हो, मृत्युसम्बन्धि हो या अन्य किसी भी प्रकारका आनन्दोत्सव हो संस्कृतको ही प्रमुखता मिलती है। हमारे जीवनके साथ इतनी अधिक घनिष्ठता, अनिवार्यता एवं एकरसता इस संस्कृतकी है। बडे बडे राष्ट्रीय समारोहोंमें, राष्ट्रगीतकी पदावलियोंमें एवं साहित्यिक कृतियोंमें (वह चाहे किसी भी प्रान्तीय भाषाकी क्यों न हो) इसी संस्कृतके दर्शन हमें होते हैं। हमारे देशके सभी विद्वान् एवं नेता एकस्वरसे इसके महत्वको स्वीकार करते हैं। यदि हम गणना करें तो हमारे दैनिक व्यवहारमें प्रयुक्त शब्दोंमें लगभग ७० प्रतिशत शब्द तो संस्कृतके होंगे। इसका सम्बन्ध हमारे राष्ट्रके साथ आजका नहीं है, अपितु जब हमारी जन्मभूमिका अस्तित्व मूर्तिमय हुआ तभीसे इसके साथ हमारा सम्बन्ध है तभीसे हमने इसके धरा और धरित्री, भूमि और माता आदि शब्द प्रयुक्त किये। हिमाचल, विन्ध्याचल, गङ्गा, यमुना, पूर्व, पश्चिम सागर, सरिता, वृक्ष, लता, अन्न, वस्त्र आदि सभी हमारे वैभवके प्रदर्शक नाम न जाने कितने प्राचीन कालसे इसी भाषाके गौरवको सिद्ध करते आ रहे हैं।

हमने जिस पाठ्यपद्धतिको अपनाया है उसके द्वारा इस भाषाको सीख लेना अत्यन्त सरल होगया है। ३२ वर्षके अनुभवके पश्चात् हम इसकी सरलताके विषयमें इतने आत्मविश्वासके साथ लिख रहे हैं। स्वर्गीय वल्लभभाई पटेल, पूज्य गांधीजी एवं अफ्रीकाके एक रोमन कॅथोलिक पादरीने इन पाठमालाओंके द्वारा संस्कृतका अच्छा ज्ञान कर लिया। इससे यह निष्पन्न होता है कि वृद्धावस्थामें थोडासा समय देकर, विना किसी नियमित अध्यापककी सहायताके भी इस पाठ्यक्रमके द्वारा कोई भी संस्कृतभाषा सीख सकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी निम्नाङ्कित अभिनव प्रगतिके और भी स्पष्ट रूपमें मिल जाता है।

	परीक्षा समय	केन्द्रसंख्या	परीक्षार्थी संख्या
१—	सितम्बर सन् १९५०	३३	८००
२—	फरवरी एवं एप्रिल सन् १९५१	८०	१८००
३—	सितम्बर सन् १९५१	१२५	३०००
४—	फरवरी एवं एप्रिल सन् १९५२	१२६	३६००
५—	सितम्बर सन् १९५२	१३०	४६००
६—	फरवरी एवं एप्रिल १९५३	१४४	५०००

हमारी कुल मिलाकर चार परीक्षायें हैं तथा वे वर्षमें दो बार होती हैं। संस्कृत अध्यापक ही हमारी इस योजनाको फलवती बनानेमें प्रमुख हैं। सच पूछा जाय तो राष्ट्रके संस्कृत शिक्षकोंके लिये यह एक अत्यन्त व्यापक एवं गौरवप्रदक्षेत्र है, जिसमें कार्य करके वे राष्ट्रभारती एवं राष्ट्रमाताकी महान् सेवा कर सकते हैं।

अबतक सारे भारतमें हमारे ३५० केन्द्र स्थापित हो चुके हैं। श्रीनगर, पटियालासे लेकर गौहाटीतक एवं अजमेर, बम्बई कुम्भकोणमूसे हैद्राबाद और पटना आदितक सारे भारतमें इनका प्रसार है। गुजरातका स्थान इस कार्यमें सर्वप्रथम है। इसके पश्चात् हैद्राबादराज्य, मध्यप्रान्त, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र, पंजाब एवं आसामका है।

सम्पूर्ण पत्र व्यवहारके लिये निम्नपतेसे पत्र व्यवहार कीजिये—

परीक्षा-मन्त्री स्वाध्यायमण्डल, ' आनन्दाश्रम ' किल्ला-पारडी (जि॰ सूरत)

वर्ष ३४ वैदिक धर्म अंक ७

क्रमांक ५४

▲ ज्येष्ठ, विक्रम संवत् २०१०, जुलाई १९५३ ▲

सत्यका संरक्षण

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ॥
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

अथर्व. ८।४।१२

ज्ञान प्राप्त करनेवालेके लिये यह घोषित करके कहा जाता है कि सत्य और असत्य भाषणोंकी परस्पर स्पर्धा जगत्‌में चलती रहती है । इनमें जो सत्य है और जो सरल होता है, उसका संरक्षण ईश्वर करता है और जो असत्य होता है उसका वह प्रभु विनाश करता है ।

सत्य और असत्यकी स्पर्धा इस जगत्‌के व्यवहारमें सदा होती रहती है। सत्यके ऊपर असत्यका आक्रमण होता है । सरलताके ऊपर कुटिलताका आक्रमण होता रहता है । पर जो सत्य और सरल है उसका संरक्षण प्रभु करता है तथा जो असत्य होता है, उसका नाश भी वही करता है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह सत्य और सरलताका पालन करे और असत्य तथा कुटिलतासे दूर रहे।

▲▲▲

पाठ्यक्रमविषयक आवश्यक सूचना

हाईस्कूलके संस्कृत पाठ्यक्रमके अनुकूल हमने अपनी परीक्षाओंमें भी व्यकरणका भाग निर्धारित किया है। अतः आगामी अगस्त मास ५३ ई० की परीक्षाओंमें यह भाग भी सम्मिलित माना जावे।

केन्द्र व्यवस्थापक एवं प्रचारक महानुभाव इस सूचनासे परीक्षार्थियोंको भलीभांति अवगत करा दें।

यह प्राथमिक प्रयास होनेके कारण व्याकरणभागका प्रश्न वैकल्पिक रूपसे पूछा जाएगा। आशा है इस प्रकारकी योजनासे किसीको क्लिष्टताका अनुभव नहीं होगा।

प्रारम्भिणी परीक्षा

व्याकरण-विभाग

(१) नाम, सर्वनाम— विभक्ति-रूप।

नाम— अकारान्त पुल्लिंग, नपुंसकलिंग, आकारान्त स्त्रीलिंग; इकारान्त पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग; उकारान्त पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग; ईकारान्त स्त्रीलिंग; ऋकारान्त पुल्लिंग, स्त्रीलिंग।

सर्वनाम— अस्मद्, युष्मद्, तद्, यद्, किम्, सर्व।

(२) क्रियापद— गण— प्रथमगण प. प; आ. प; चतुर्थगण प. प; आ. प; षष्ठगण प. प; आ. प, दशमगण. इसके अतिरिक्त २, ८ व ९ गणोंके धातु. द्वितीय गण— प. प.–पा, या, अस्; अष्टमगण– कृ; नवमगण– ज्ञा।

(अ) प्रथमगण प. प— अर्ह्, अर्, चर्, खाद्, क्रश्, कृष्, खेल्, क्रीड्, कूज्, क्रम्, गम्, जप्, फल्, तप्, वस्, वद्, पठ्, रक्ष्, हस्, पत्, वप्, नम्, दह्, वर्ष्, लस्, त्यज्, जल्प्, लग्, निन्द्, जि, द्रु, भू, स्तृ, स्मृ, तृ, गै, ध्यै, पा, घ्रा, स्था, दा।

आ. प— यत्, लभ्, रम्, क्षम्, त्रप्, सह्, दद्, स्वद्, बाध्, राज्, भाष्, स्वाद्, भास्, स्पर्ध्, त्वर्, वन्द्, लम्ब्, ईक्ष्, सेव्, शुभ्, द्युत्, मुद्, वृत्, वृध्, क्लृप्।

उ. प— याच्, लष्, पच्, शप्, भज्, बुध्, वह्, हृ, श्री, नी।

(आ) चतुर्थगण प. प.— पुष्, क्रुध्, कुप्, स्निह्, नश्।

आ. प.— जन्, पद्, मन्, विद्, खिद्।

(इ) षष्ठगण प. प.— लिख्, स्पृश्, सृज्, क्षिप्, प्रच्छ्, इष्।

आ. प.— मृ, लज्ज्।

उ. प.— क्षिप्, दिश्, कृष्, मुच्, विन्द्।

(ई) दशम गण— चुर्, चिन्त्, कर्ण्, तड्, धृ, भक्ष्, दण्ड्, पूज्, अर्च्, लोक्, अर्थ्, पार्, पाल्, गण्, कथ्, ज्वल्, क्री।

उपर्युक्त धातुओंके वर्तमानकाल, प्रथमभूत, आज्ञार्थ व विध्यर्थके रूप।

(उ) द्वितीयगण प. प— अस, पा, या।

(ऊ) अष्टमगण— कृ।

(ए) नवमगण— ज्ञा।

(३) पुस्तकमें आये हुए— त्वान्त, ल्यबन्त व तुमन्त के रूप।

(४) अव्यय— अलम्, अपि, अयि, अथ, इति, इह, एवम्, एव, यथा — तथा, नमः, च, वा, मा, न, बिना।

(५) उपसर्ग— अनु, अव, अप, अधि, अभि, आ, उद्, उप, नि, परा, प्र, परि, सम्।

(६) सन्धि— वाक्योंको पूर्ण करना, गुण, वृद्धि, विसर्ग लोप इत्यादि।

(७) सुभाषित— पाठ्य पुस्तकमेंसे २० श्लोक कण्ठस्थ करना और लिखना।

प्रवेशिका परीक्षा

व्याकरण विभाग

(१) नाम— वाच्, जगत्, महत्, युध्, शशिन्, राजन्, अहन्, नामन्, आत्मन्, चन्द्रमस्, श्रेयस्, तुष्, आशिस्, पति, सखि, लक्ष्मी, श्री, चमू, भू — तथा इसी प्रकारके अन्य।

(२) सर्वनाम— एतद्, इदम्, अदस्, भवत्, अन्य, एक, द्वि, त्रि।

(इनके अतिरिक्त —प्रारम्भिणी— परीक्षामें नियत नाम व सर्वनाम।)

विशेषण— गुण व संख्या विशेषण (संख्यावाचक, क्रमवाचक)

(३) क्रियापद— पहली —प्रारम्भिणी— परीक्षामें आये हुए १, ४, ६ व १० गण तथा इनके अतिरिक्त

२, ३, ५, ७, ८ एवं ९ गण- में के कुछ धातु।

गण १- प. प.— ऋ, व्रज्, नट्, ज्वल्, भ्रम्, सद्, सृप्, तप्, शुच्, कांक्ष्, ध्मा, क्षि, दश् इत्यादि।

आ. प.— गर्ह्, कम्प्, कम्, गाह्, स्पन्द्, चेष्ट्, रुच्, त्रै, डी, ग्रस्, भिक्ष्, श्लाघ्, वेप् इत्यादि।

गण २- प. प.— अन्, इ, ख्या, मृज्, स्वप्, वच्, भा, या, रु, यु, रुद्, शास्, विद्, जागृ, हन्, नि+द्रा।

आ. प.— आ+चक्ष्, आस्, आ+शास्, अधि+इ, ईश्, शी, सू।

उ. प.— दुह्, द्विष्, स्तु, ब्रू, लिह्।

गण ३- प. प.— भी, ह्री, हु, हा, मा, पृ।

आ. प.— भृ।

उ. प.— दा, धा, भृ, निज्, विष्।

गण ४- प. प.— अस्, दिव्, तृप्, त्रस्, व्यध्, नृत्, श्लिष्, शुध्, क्लम्, हृष्, द्रुह्, मद्, क्षुभ्, तुष्, भ्रम्, सिध्, भ्रंश्, शम्।

आ. प.— अनु+रुध्, युध्, नह्, उद्+पद्।

उ. प.— दीप्।

गण ५- प. प.— आप्, धृष्, हि, शक्, साध्, श्रु, दु।

आ. प.— अश्।

उ. प.— चि, सु, वृ, स्तृ, धु, कृ।

गण ६- प. प.— कृ, कृत्, स्फुर्, सं+मुच्, गुम्फ्, गॄ, मस्ज् मिल्, मृश्।

उ. प.— तुद्, नुद्, लिप्, सिच्।

गण ७- प. प.— तृह्, पृच्, उद्+विज्, हिंस्, अञ्ज्, युज्, भिन्द्, भञ्ज्, पिष्, छिद्, रुध्।

आ. प.— खिद्, नि+युज्।

उ. प.— नि+रुध्, क्षुद्, भुज्।

गण ८- आ. प.— मन्, वन्।

उ. प.— कृ, तन्, क्षण्, क्षिण्।

गण ९- प. प.— मन्थ्, अश्, पुष्, मुष्, जॄ, प्री, मृद्, ज्ञा, धू, ग्रंथ्, क्षुभ्, प्लुष्।

आ. प.— बन्ध्, वि+की, वृ।

उ. प.— धू, की, पू, प्री, वृ, प्रति+ग्रह्।

गण १०- आ. प.— तन्त्र्, मन्त्र्, मृग्, गर्व्, तर्ज्, प्र+अर्थ।

उ. प.— अर्ज्, अर्च्, प्र+क्षल्, भक्ष्, धृ, पू, प्री, वर्ण्, कथ्, दण्ड्, पीड्, कृत्, मार्ग्, लङ्घ्, स्पृह्, तुल्, रूप्, ईर्, वर्, मान्, चूर्ण्, लाल्।

उपसर्ग— सम्पूर्ण।

अव्यय— अन्यथा, अन्तरेण, आविस्, आरात्, उपरि, उत, क्व, किल, किमु, कच्चित्, चित्, चमत्, चिरात्, चन, खलु, ननु, नाम, पुनः, प्रभृति, प्रादुस्, धिक्, ध्रुवम्, यदि-तर्हि, दिष्ट्या, हि, हन्त।

सन्धि— सर्व (स्वर व व्यंजन)

समास— तत्पुरुष, कर्मधारय, द्वन्द्व, बहुव्रीहि।

प्रयोग— कर्तरि, कर्मणि, भावे।

सुभाषित— पाठ्य पुस्तकमेंसे २५ श्लोक कण्ठस्थ करना और लिखना।

परिचय परीक्षा

व्याकरण विभाग

(१) **नाम एवं सर्वनाम—** प्रारम्भिणी तथा प्रवेशिका परीक्षाओंके नियतसम्पूर्ण नाम तथा सर्वनाम।

(२) **क्रियापद—** पिछले दो काल, दो अर्थ और द्वितीय भूत अथवा परोक्ष, सामान्य अथवा तृतीय भूत, प्रथम भविष्य एवं द्वितीय भविष्य; इसी प्रकार संकेतार्थ और आशीर्वादार्थ।

(३) **विशेषण एवं क्रियाविशेषण—** पुंलिंग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग नामोंके समान चलनेवाले, संख्यावाचक, धातुसाधित।

(४) **निबंध-पत्रलेखन—** किसी विषयपर साधारणतः १५ पंक्तियोंका निबंध संस्कृतमें लिखना, अथवा पत्रलेखन।

(५) **सुभाषित—** पाठ्य पुस्तकोंमेंसे ३० सुभाषित, लोकोक्तियाँ।

(६) **समास—** पिछले चार समास— बहुव्रीहि, तत्पुरुष, कर्मधारय तथा द्वंद्व, द्विगु, एवं अव्ययीभाव।

विशारद परीक्षा

पहली तीन परीक्षाओंके लिये नियत सम्पूर्ण व्याकरण, निबंध-रचना, पत्र-लेखन। पाठ्यपुस्तकके बाहरका संस्कृत गद्य और पद्यका मातृभाषामें अनुवाद, मातृभाषासे संस्कृतमें अनुवाद तथा छन्दोविज्ञान। इसके अतिरिक्त 'सुभाषित' के पाठ्यपुस्तकान्तर्गत ५० श्लोक कण्ठस्थ करना और लिखना।

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखाङ्क ३४]

लेखक— पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

● ● ● ● ● ● ●

राजाका राष्ट्रसभापर आक्रमण

हम अपने प्राचीन इतिहासकी ओर यदि दृष्टि डालें तो हमें यह दिखाई देगा कि हमारी जातीकी संरक्षक शक्ति युद्धपूर्व कालकी अपेक्षा युद्धोत्तर कालमें क्षीण होगई है और इसीके अनुसार हमारी कथाओंमें बहुत कुछ परिवर्तन किया गया है। इसका विचार करनेके लिये हम परशुराम तथा रामके समय घडी हुई कथाओंका विचार करेंगे।

परशुरामकी कथा

क्षत्रिय राजाओंने परशुरामके पिताको कष्ट दिया। उनका आश्रम लूटा; इसलिये परशुराम क्रोधित हुआ और उसने क्षत्रियोंका विनाश किया। इस अवसरपर उसने किसी भी बाहरकी जातीका सहयोग नहीं लिया था। इससे यह अनुमान निकलता है कि उस समय ब्राह्मणजाती स्वसंरक्षण करनेमें समर्थ थी। 'शापादपि शरादपि' की परंपरा उस समय जीवित थी। ज्ञानसे किया जानेवाला कार्य ज्ञानद्वारा किया जाता था और युद्धका अवसर उपस्थित होजानेपर ब्राह्मणलोग स्वयं युद्ध करके भी अपनी रक्षा किया करते थे और शत्रुका पराभव किया करते थे।

वसिष्ठ एवं विश्वामित्र

इसके पश्चात्‌की कथा इस प्रकारकी है कि वसिष्ठ ऋषिके आश्रमपर विश्वामित्रने आक्रमण किया और जब वसिष्ठ और विश्वामित्रका युद्ध प्रारंभ हुआ तब वसिष्ठके आश्रमके समीप रहनेवाले भिल्ल, किरात, यवन, शकादि जंगली लोग विश्वामित्र पर टूट पडे; किन्तु विश्वामित्रने उन्हें दबा दिया। तब स्वयं वसिष्ठ अपना ब्रह्मदण्ड नामक अस्त्र लेकर सामने आये और उन अस्त्रों द्वारा उन्होंने विश्वामित्रका पूर्णतः पराभव कर दिया। बलाढ्य क्षत्रियको पराभूत करने जितनी शक्ति वसिष्ठ ऋषिमें थी।

नर नारायण

तीसरा उदाहरण यह है कि उसी समय नरनारायण ऋषिके आश्रमपर इसी प्रकार क्षत्रियोंने आक्रमण किया। उसका प्रतिकार नरनारायणने अपने पासके अस्त्रोंसे किया। इस अस्त्रके छोडते ही सैनिकोंको छींकें आने लगीं और सेनाकी गति रुक गई। इस प्रकार उसका पराभव होकर वह पीछे लौट गई। महाभारतमें एक प्राचीन कथाके रूपमें इसका उल्लेख है।

इस प्रकार यह समय ऐसा था कि इस समयके ब्राह्मण शस्त्रास्त्र सम्पन्न एवं स्वसंरक्षण करनेमें समर्थ थे। किन्तु आगे चलकर यह स्थिति बदल गई। विश्वामित्रकी कथा भी आगे चलकर किस प्रकार बदल गई वह देखिये—

विश्वामित्रकी सेनाका पराभव 'म्लेच्छ-यवन-शबर-शक' आदियोंने किया, ऐसा उल्लेख महाभारतीय अगली कथाओंमें हैं। रामायणकार कहते हैं कि विश्वामित्रकी सेनाने म्लेच्छ यवनादिकोंको छका दिया और अन्तमें स्वयं वसिष्ठने ब्रह्मदण्डास्त्रसे विश्वामित्रका पराभव किया। रामायणीय कथा लेखककी दृष्टिसे भारतीय ब्रह्मबल एवं क्षत्रियबलकी अपेक्षा म्लेच्छ-यवनादिका बल निम्नकोटिका है। किन्तु इसी कथामें आगे जाकर अन्तर कर दिया गया और यह समझा जाने लगा कि भारतीय क्षत्रियोंका पराभव म्लेच्छ-यवनादियोंने कर दिया। विश्वामित्रकी ही कथा रामायण एवं महाभारत तथा तदुत्तर ग्रन्थोंमें यदि देखें तो हमें इस परिवर्तनका स्पष्ट पता लग सकता है। देखिये-

१- नर नारायण ऋषि एवं परशुराम अपने स्वयंके बलसे क्षत्रियोंका पराभव करते हैं।

२- वाल्मीकिका वासिष्ठऋषि स्वयं अपने बलसे विश्वामित्रका पराभव करता है। इस समय वसिष्ठ अपनी ओर यवन बलको खडा करता है; किन्तु उसका पराभव हो जाता है और अन्तमें ब्रह्मबल द्वारा ही विश्वामित्र पराभूत होता है।

यह समय ऐसा था जब कि यवन-बलकी अपेक्षा दिग्विजयी आर्योंका बल अधिक था किन्तु इसमें थोडासा अन्तर है। नरनारायण एवं परशुरामके समय यवनोंकी सहायता नहीं ली गई है; किन्तु वसिष्ठ-कथाका लेखक लिखता है कि वसिष्ठने यवनोंकी मदत ली; किन्तु वह विश्वामित्रके सामने नगण्य रही। इससे अगला समय तो इससे भी हीन है। इस समयका कवि लिखता है कि-३-वासिष्ठकी ओरसे यवन लडे और इन्होंने ही इस विश्वामित्र नामक क्षत्रियका पराभव किया।

यवनोंका प्राबल्य होजानेपर इस कथामें इतना अन्तर होगया है। अब म्लेच्छ, यवन और शकोंने विश्वामित्रकी सेना उध्वस्त की ऐसा यह कवि कहता है; अतः तब आर्योंका पराभव एवं यवनोंकी सर्वत्र विजय होती थी, ऐसा प्रतीत होता है। वाल्मीकिके लेखानुसार 'विश्वामित्रने यवनोंका पराभव किया' इस बातपर इस कविका विश्वास न बैठ सका। सम्भवतः इसीलिये उसने अपने अनुभवके आधार पर मूल कथामें सुधार करके यह दर्शाया कि यवनोंने ही विश्वामित्रका पराभव किया है!!! पश्चात्के अनेक कवियोंने भी इसीका अनुसरण किया है।

वास्तवमें इस प्रकारके सुधारकी आवश्यकता नहीं थी। किन्तु यदि कवि यवनोंके पराभवकी कल्पना ही नहीं कर पाया होगा तो किस प्रकार वह अपनी कथामें उसका उल्लेख करेगा? यही कारण है कि कथाको सुधार कर लिखनेका मोह वह त्याग न सका।

इस कथामें जो परिवर्तन हुआ है उसके आधारपर निम्न अनुमान लगाये जा सकते हैं।

१- एक समय ऐसा था जब आर्य स्वयंके बलपर युद्ध किया करते थे।

२- बादमें वे यवनादिकोंकी सहायता लेने लगे। किन्तु इस समय यवनादिकोंका सामर्थ्य बहुत बढा हुआ नहीं था। यवन आर्यों द्वारा पराभूत होते थे।

३- इसके पश्चात् यवनोंका प्राबल्य बढ गया और आर्योंका कम हो गया। ग्रामसभा अथवा राष्ट्रसमिति राजाकी पुत्रियाँ हैं। क्योंकि वे राजाकी आज्ञासे निर्माण होती हैं। ये दुहितायें (दुहिता-दूरे हिता) जितनी दूर होंगी उतनी ही लाभदायक होंगी। पुत्री पितासे दूर रहनेवाली ही हितकर होती है तथा पत्नी जितनी समीप होगी उतनी हितकर होती है।

इसमें जो भी कारण होंगे उनमें मुख्य कारण यह है कि बुद्ध धर्मकी अहिंसाकी विचारसरणी आर्योंमें घुस पडी और इस कारण आर्यलोग धीरे धीरे शौर्यवीर्यमें पिछडते चले गये। जैनबौद्धोंके अहिंसाके प्रचारके कारण शौर्यवीर्यकी ओर दुर्लक्ष्य होता गया और इन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि हमारी रक्षा कोई दूसरा आकर करे!! इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी आते रहे और उन्होंने हिन्दुओंको लूटना प्रारम्भ कर दिया। इन हिन्दुओंके भोलापन एवं भीरुता इतनी बढ गई कि उन्होंने अपनी आदर्शकथाओंमें भी अहिंसासे मेल खानेवाला परिवर्तन कर दिया और अन्तमें शतकानुशतक वे दास्यबन्धनमें पडे रहे।

वसिष्ठ एवं विश्वामित्रकी इस कथामें लेखकने जो परिवर्तन किया है उसे इस ऐतिहासिक दृष्टिसे पाठक देखें और उससे निष्पन्न होनेवाले परिणामोंपर सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें। इससे उन्हें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि जैनबौद्धोंकी विचारसरणीके कारण आर्योंके शौर्यका किस प्रकार ह्रास हो गया है। साथ ही आर्योंकी संस्कृतिमें होनेवाले परिवर्तनका भी वे अनुमान कर सकेंगे।

प्रजापतिकी कथा

अब हम प्रजापतिकी कथाका विचार करेंगे। 'प्रजापति अपनी पुत्रीके पीछे दौडने लगा।' उसका यह कृत्य तत्कालीन नेताओंने देखा और उन्होंने प्रजापतिका विरोध किया। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने सशक्त पुरुषोंका एक संगठन बनाकर उसके द्वारा प्रजापतिका वध करवाया तथा उसके स्थानपर दूसरा नया प्रजापति अधिष्ठित कराया।

यह कथा ऐतरेय तथा शतपथादि ब्राह्मणोंमें है। 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावत्' प्रजापति अपनी पुत्रीके पीछे दौडने लगा। अनेक विद्वानोंने इसका रूपान्तर करके 'सूर्यपुत्री उषा है और उसके पीछे सूर्य दौडने लगा' जैसी कल्पना की है। अनेक पुराणकर्ताओंने उषाके यौवन और सौन्दर्यका खूब भडकीला वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि कामविह्वल प्रजापति सचमुच ही अपनी पुत्रीके पीछे दौडा था।

ये समस्त वर्णन प्रजापतिकी निन्दा करनेवाले हैं। यह कथा जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है उसी प्रकार यदि

सचमुच घटित हुई हो तो ऐसे प्रजापतिका नाम भी लेना कोई न चाहेगा। किन्तु क्या सचमुच प्रजापति ऐसा ही था?

वैदिक मन्त्रोंमें भी इसी कथाका वर्णन है। वह इतनी घृणास्पद नहीं है; अपितु उसका स्वरूप तो केवल राजकीय है। इस कथाका वेदोंमें इस प्रकार उल्लेख है—

कथाका राजकीय स्वरूप

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेः दुहितरौ संविदाने। अथर्व ७।१२।१

"ग्रामसभा एवं राष्ट्रसमिति प्रजापतिको ज्ञान देनेवाली उसकी दो पुत्रियां हैं। ये दोनों प्रजापति-प्रजापालक राजा का संरक्षण किया करती थीं।"

यहां जो वर्णन किया गया है उससे प्रतीत होता है कि प्रजापति प्रजाका पालन करनेवाला है। ग्रामसभा एवं राष्ट्र-समिति उसकी दुहिता अर्थात् पुत्रियाँ हैं। ये दोनों राजाको अनेक प्रकारकी सम्मतियाँ दिया करती हैं तथा राजाकी रक्षाका भार भी इन्हींपर रहता है। यह सब राजनीतिक दृष्टिसे सर्वथा सत्य है।

इस प्रकारका यह प्रजापति ग्रामसभा एवं राष्ट्रसमितिको स्वतन्त्र रखकर यदि राज्यशासन करेगा एवं उसका ज्ञान सभासदों द्वारा प्राप्त करेगा तब तो वह उचित है; किन्तु यदि वह अपने अधिकारोंसे बाहर होकर उन सभाओंपर अन्यायपूर्वक आक्रमण करेगा तो वह अपने स्थानपर रहनेके अयोग्य समझा जाएगा।

राजाका राष्ट्रसभापर आक्रमण

वैदिक कालके एक प्रजापतिने इन लोकसभाओंके अधिकारोंपर अनधिकार पूर्वक आक्रमण किया। वह देखकर लोकसभाके सदस्योंने अपनेमेंसे प्रभावशाली सदस्यों को एकत्रित किया और उनके द्वारा प्रजापतिपर बाणका आक्रमण करवाया। इससे वह घायल हो गया और अन्तमें मर गया। तब उन सदस्योंने 'अन्यं प्रजापतिं निरसक्षन्' (ऋग्वेद) दूसरे प्रजापतिका निर्वाचन करके उसे पदारूढ किया। इस प्रकार यह दूसरा प्रजापति शासन करने लगा।

यह अर्थ राजकीय स्वरूपका, सरल एवं बोधप्रद है। इसका संक्षिप्त रूप यह है—

(१) किसी एक देशमें प्रजापति नामक संस्थाकी व्यवस्था थी।

(२) वहाँके शासकने प्रत्येक ग्राममें एक ग्रामसभा स्थापित की थी। वह गांवका कामकाज देखा करती थी।

(३) राष्ट्रका शासन कार्य करनेके लिये उसने राष्ट्र-समितिकी स्थापना की थी, वह राष्ट्रका शासन-कार्य चलाया करती थी।

(४) एक बार वहाँके शासकने (प्रजापतिने) इन सभाओंके कार्यमें विघ्न डाले।

(५) इन सदस्योंको यह रुचा नहीं। तब—

(६) उन्होंने उस प्रजापतिको हटा दिया और समाप्त कर दिया। इसके बाद—

(७) दूसरे प्रजापतिका निर्वाचन किया और वह उसके स्थानपर बैठा तथा राज्यशासन चलाने लगा।

इस वैदिक कथामें लोकसभा, उसके अधिकार, राजाका उनके अधिकारोंपर अतिक्रमण, सदस्यों द्वारा उसे पदच्युत तथा वध करना, इसके बाद दूसरे प्रजापतिका निर्वाचन करना तथा उसे गादीपर बैठाकर उसके द्वारा शासन कार्य करवाना आदि बातें हैं। ये सब बातें राजकीय स्वरूप की हैं तथा ऐसी ही हैं जो राजकीय इतिहासमें सम्भव हैं।

अतः प्रजापतिको सूर्य एवं उषाको उसकी दुहिता माननेकी आवश्यकता ही नहीं है। इसी प्रकार उसके कामातुर होकर अपनी तरुण पुत्रीके पीछे भागने जैसी बीभत्स कल्पनायें भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

मूल वैदिक मन्त्रोंकी कल्पना उपर्युक्त लेखकोंको सम्भवतः ज्ञात नहीं थी। आज हमारे पास वेदमन्त्रोंकी कथा है तथा उसकी पोषक अन्य कथायें भी हैं। इन सबके आधार पर यह माना जा सकता है कि यह कथा राजकीय है तथा उसका अपना एक ऐतिहासिक स्वरूप है। इस कथाके द्वारा आज भी राज्यशासन विषयक उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है।

किन्तु इस मूलकथाका जो अश्लील रूपान्तर अगले लेखकोंने किया उससे किसी प्रकारका भी बोध नहीं

मिलता। आजतकके अनेक लेखकों द्वारा प्रजापतिके नाम-पर लगा हुआ यह इस प्रकारका कलंक अनेक रीतिकी उपपत्तियाँ करनेपर भी दूर नहीं किया जा सका। किन्तु वेदमन्त्रोंके अनुशीलनके पश्चात् इस कथाका भाव उपर्युक्त रीतिसे विदित होजानेपर इसकी अश्लीलता दूर हो जाती है और इसमें जो राज्यशासनका स्वरूप दर्शित किया गया है वह स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह कथा आज भी निर्विवाद रूपेण उपादेय हो सकती है।

वैदिक शासन-व्यवस्थामें राज्यशासक लोकनियुक्त हुआ करते थे। उसकी महायताके लिये लोकसभा एवं राष्ट्र-सभा नियुक्त की जाती थीं। ये सभायें उस शासकको राज्य-शासन विषयक उचित सम्मति दिया करती थीं। जब वह शासक अपने अधिकार क्षेत्रमें न रहकर प्रजा अथवा लोक सभाके अधिकार-क्षेत्रपर आक्रमण करता था और विधान-के अनुसार यथाविधि राज्यशासन सम्हालता न था उस समय लोकसभाके सदस्य उसे राज्यसे पदच्युत कर दिया करते थे या उसे प्राणदण्ड भी दे दिया जाता था।

उपर्युक्त बोध आज भी राज्यशासक अथवा लोकसभाके सदस्योंके लिये उपादेय है। लोकसभाके सदस्योंको क्या क्या अधिकार थे तथा शासकको क्या क्या अधिकार प्राप्त थे इसका निर्णय इस वैदिक कथासे स्पष्ट हो जाता है। अतः पाठक इस कथाका विचार अत्यन्त सूक्ष्मरूपेण करें। वेदसे अतिरिक्त कथाभागसे इस प्रकारका कोई अर्थ निष्पन्न नहीं होता। अर्थात् कथाको बदलकर या बढाकर भी उसमें कोई गौरव उसके पाठक न ला सके।

वैदिक संस्कृतिमें राज्यशासक, जनसंख्या और उनके सदस्योंके अधिकार क्या थे ? इसका स्पष्टीकरण इस कथासे हो जाता है।

भारतीय राष्ट्र प्रथम कितना समर्थ था और बौद्ध विचार-धाराके फैल जानेपर वह किस प्रकार शक्तिहीन हो गया ? यह भी इस लेख द्वारा समझा जा सकता है। जो लोग विदेशियोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखते थे उन्हींके वंशज विदेशियोंकी सहायता लेकर किस प्रकार शक्तिहीन बन गये ? यह भी इस लेखकी पहली कथासे सिद्ध हो जाता है। वैदिक विचार परम्परा नष्ट हो जानेके कारण हमारे राष्ट्रका कितना अधःपतन हो गया है ! इसका एक-मात्र उपाय वैदिक विचारोंकी जागृति ही है।

[लेखाङ्क ३५]

यज्ञ और राक्षस

विश्वामित्रका यज्ञ

पाठक वृन्द विश्वामित्रसे परिचित हैं। विश्वामित्र एक राजा था। उस समय उत्तर भारतमें ५०। ५५ छोटे बडे राज्य थे। ये सब आपसमें झगडा किया करते थे तथा जो अधिक प्रबल होजाता था वह अन्य राजाओंसे स्वयंको श्रेष्ठ मनवाता था और सम्राट्की पदवी धारण कर लिया करता था। विश्वामित्र भी इसी प्रकारका एक सम्राट् था।

उस समय प्रत्येक राजाका क्षेत्र मर्यादित होनेके कारण किसी भी राजा अथवा सम्राट्को अपने राज्यसे बाहर विशेष सन्मान प्राप्त नहीं होता था। किन्तु ब्राह्मणोंकी स्थिति ऐसी नहीं थी। ब्राह्मणोंका आदर सत्कार अधिक व्यापक क्षेत्रमें हुआ करता था। " स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते " इस वाक्यका अर्थ भी तभी बराबर समझमें आसकता है जब उस समयकी परिस्थिति-का सम्यक् ज्ञान हो।

कल्पना कीजिये कि उत्तर भारतमें ५० राज्य हैं और उन राज्यों पर एक एक राजा है। इन राजाओंका अधि-कार अपने राज्यतक ही सीमित रहेगा। किन्तु यदि कोई काशीका पण्डित आजाय तो उसका अधिकार भारतके समस्त राज्योंपर समान रूपसे रहेगा। आर्यावर्तके बाहर भी ब्राह्मणोंका अधिकार हुआ करता था। क्षत्रियोंका अधि-कार राज्यशासनके विषयमें हुआ करता था तथा ब्राह्मणों-का अधिकार धार्मिक विषयमें हुआ करता था। अतः इन अधिकारोंका पारस्परिक संघर्ष होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं थी। इस प्रकार ब्राह्मणोंके लिये सर्वत्र सन्मानके लिये अवसर था; किन्तु क्षत्रियोंको वैसा नहीं था।

कश्यपकी पृथ्वी

' कश्यप की पृथिवी ' इस प्रकारकी मान्यता थी। अर्थात् समस्त पृथिवी कश्यप ऋषिकी है। किसी भी राजाके लिये ऐसा नहीं कहा जाता था कि समस्त पृथिवी उसकी है; किन्तु वह ब्राह्मणोंकी है, यह अवश्य समझा जाता था। तत्कालीन इस प्रकारकी व्यवस्थाकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

स्वयं ब्राह्मण कभी भी राज्य नहीं करते थे; किन्तु राजाके पुरोहित बनकर समस्त उथल पुथल वे ही किया करते थे। उस समयका पौरोहित्य आजके समान केवल दर्भ एवं तिलोंतक ही सीमित नहीं था; अपितु राजाकी सेना, उसके शस्त्रास्त्र, कोष एवं औद्योगिक व्यवस्थापर भी इस पुरोहित का अधिकार रहता था। इस सम्पूर्ण व्यवस्थाकी देखरेख रखना पुरोहितका कर्तव्य ही था। युद्ध किया जाय अथवा न किया जाय, इसका निर्णय भी पुरोहित ही किया करता था, किन्तु युद्ध राजा करता था।

पुरोहितके कर्तव्य

एषामहं आयुधा संश्यामि जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः। अथर्व०

' जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके आयुध मैं तीक्ष्ण रखा करता हूँ ' यह वाक्य एक पुरोहित बोलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरोहितके अधिकार क्या थे तथा उनका अधिकार क्षेत्र कितना विशाल था ! चित्रसेन गन्धर्वने भी पाण्डवोंसे कहा था कि अच्छा पुरोहित किये बिना तुम्हें राज्य नहीं मिलेगा। अतः उन्होंने धौम्यको पुरोहित बनाया यह वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध है। इस प्रकार ब्राह्मणोंका अत्यन्त व्यापक कार्यक्षेत्र था। आज क्षत्रियोंका क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है तथा ब्राह्मणोंका क्षेत्र संकुचित हो गया है। किन्तु यह स्थिति वैदिक कालमें नहीं थी।

उत्तर भारतमें ५० । ५५ राजा थे और उन सबके पुरोहित ब्राह्मण ही थे। इन सब ब्राह्मणोंका विज्ञानसूत्र एक ही हुआ करता था। गुरुपरम्परा, वेदपरम्परा, विज्ञानपरम्परा आदि परम्परायें सभी ब्राह्मणोंकी एकसी ही थीं। यही कारण था कि उस युगमें ब्राह्मणोंका वजन सर्वाधिक था और इसीलिये क्षत्रिय भी ब्राह्मणोंसे दबकर रहा करते थे। प्रत्यक्षरूपसे राज्याधिकार न होनेपर भी उस युगके ब्राह्मणों ने अपना वजन इस प्रकार जमा रक्खा था। इसीको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि समस्त पृथ्वीपर सांस्कृतिक राज्य ब्राह्मणोंका था एवं क्षत्रियोंका राज्य केवल उनकी सीमाओंतक सीमित था। इस परिस्थितिको हृदयङ्गम किये बिना तत् कालीन इतिहास समझमें नहीं आ सकता।

ब्रह्मबल एवं क्षत्रबल

इन ब्राह्मणोंके महत्त्वके कारण राजा विश्वामित्रको ' धिग्बलं क्षत्रियबले, ब्रह्मतेजो बलं बलं ' का जो अनुभव हुआ था वह उस समयकी परिस्थितिके कारण ही हुआ था और इसीलिये वह क्षत्रियवर्णका परित्याग करके ब्राह्मणवर्णमें प्रविष्ट हुआ था ! ! आगे जाकर विश्वामित्रने ब्राह्मणवर्णमें प्रसिद्धी पाई है तथा ब्राह्मणवर्णमें उसने सम्मान भी प्राप्त किया है। ब्राह्मण बन जानेपर ब्राह्मणोंके सांस्कृतिक कार्य इसने खूब ओरशोरसे जारी रखे थे।

ब्राह्मणलोग यज्ञमार्गसे वैदिकधर्म एवं वैदिकसंस्कृति का प्रचार किया करते थे। एक समय विश्वामित्र स्वयं राजा थे, अतः उनका वजन तत्कालीन क्षत्रियोंपर होना स्वाभाविक ही था। यदि इन्हें यज्ञ करना ही अपेक्षित होता तो किसी भी राजाके राज्यमें जाकर कह देते कि ' मैं यज्ञ करना चाहता हूँ ' और इस प्रकार उस राजासे सब प्रकार की सुविधा प्राप्त कर सकते थे; किन्तु विश्वामित्रने वैसा नहीं किया। उन्होंने किसी भी आर्यराजाके राज्यमें यज्ञ न करके जहाँ विधर्मी राक्षसोंका राज्य था वहाँ जाकर यज्ञ किया !

विधर्मी राक्षसों द्वारा इनके यज्ञमें यदि किसी प्रकारकी विघ्न बाधा डाली जाती तो आर्यराजाओंकी सहायता लेकर वह उसी भूमिपर साङ्ग यज्ञ करनेका आग्रह किया करता था। उस युगमें सभी ब्राह्मणोंकी यही मनीषा परिलक्षित होती है। जिस देशमें आर्य राजाओंका राज्य हुआ करता था वहाँ ये लोग यज्ञ न करके जहाँ राक्षस लोगोंकी बस्ती हुआ करती थी वहाँ जाकर अपनी पर्णकुटीर बनाया करते थे और यज्ञ किया करते थे। यदि राक्षस यज्ञमें बाधा डालते तो ये लोग उन्हें क्रूर और निर्दयी कहकर निन्दित करते थे।

राक्षसोंकी बस्तियोंमें यज्ञ

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जहाँ राक्षसोंकी बस्ती थी वहाँ जाना ऋषियोंके लिये क्या उचित था ? क्या वहीं पर उन्हें यज्ञ करना चाहिये था ? केवल विश्वामित्र ही नहीं, अपितु भरद्वाज, अगस्ति, शरभंग आदि बडे बडे ऋषि भी दक्षिणमें जाते हैं और जहाँ राक्षसोंका अड्डा था वहींपर रहकर यज्ञ किया करते थे। ये सब बिना किसी कारण-विशेषके इस प्रकार करनेवाले नहीं थे।

उपर्युक्त ऋषियोंको उत्तर भारतके राजाओं द्वारा यज्ञके लिये सहयोग न मिलता, ऐसी स्थिति नहीं थी। किन्तु वास्तविक बात तो यही थी कि उन्हें राक्षसोंकी भूमिमें जाकर ही यज्ञ करने थे। राम जिस समय वानवासके काल में दक्षिण पहुँचे तो उन्हें ऋषियोंकी अस्थियोंके पर्वतके पर्वत दिखाये गये। अस्थियोंके पर्वत अर्थात् बडे बडे ढेर उन्हें दिखाई दिये होंगे। राक्षसोंने इतना अधिक ऋषियोंका संहार किया था। इतना अधिक संहार होनेपर भी ऋषि एवं ऋषि कुमार उसी ओर जाया करते थे, वहींपर बसते थे तथा प्रत्येक यज्ञमें प्रतिबन्ध होजानेपर भी पुनः पुनः वहींपर यज्ञ करते रहते थे। ऋषिगण इस प्रकार क्यों करते थे ? इसका विचार करना चाहिये।

अगस्त्य ऋषिका साहस

अगस्त्य ऋषि इन सबमें सर्वाधिक साहसी था। वह कंबोडियासे भी आगे बढ गया था। दक्षिण दिशाकी ओर जाना दुःसाहस ही माना जाता था। किन्तु इसी दिशाको निर्भय करनेका महान कार्य अगस्त्यने किया। इसके पीछे तो ऋषियोंका उस ओर तांतासा बंध गया था। नासिक तक स्वल्पाधिक प्रमाणमें राक्षसोंका आधिपत्य था। वानर जाती दण्डकारण्यमें रहा करती थी। किन्तु इसकी राक्षसोंके साथ सन्धि थी। दक्षिणकी ओरसे आनेवाले राक्षसोंके लिये नासिक तकका मार्ग बेरोकटोक खुला हुआ था। नासिकसे आगे बढनेपर ही उन्हें किसीके प्रतिरोधका सामना करना पडता था। राक्षसोंसे व्याप्त इस प्रकारकी दक्षिण दिशामें ऋषिगण जाया करते थे और हड्डियोंका ढेर लगनेकी अवस्था प्राप्त होनेतक भी वे इसी प्रदेशमें यज्ञ करनेका आग्रह क्यों किया करते थे ? इसपर विशेष विचार होना चाहिये।

जिस स्थानपर यज्ञ पूर्ण होता था तथा जहाँपर अवभृत स्नान किया जाता था वहाँ तकका भूभाग आर्य राज्यसे मिला दिया जाता था। वहाँतक वैदिक संस्कृतिकी मर्यादाका क्षेत्र बन जाया करता था। इसी कारण ऋषियों द्वारा प्रचलित यज्ञोंमें राक्षसगण विघ्न डाला करते थे। और यज्ञोंको समाप्त नहीं होने देते थे। राक्षसोंसे व्याप्त प्रदेशमें ऋषि घुसें एवं उन्हें वहाँसे भगानेके लिये यज्ञ करें तथा यज्ञ पूर्ण होनेपर उतना भूभाग आर्यराजाके राज्यसे जोडदें यह सब इन सब राक्षसोंको या किसीको भी किस प्रकार सहन हो सकता था!

यह भूभाग भी कोई थोडा भाग नहीं हुआ करता था। मृग जहाँ स्वेच्छासे संचार करते हों वहाँ ये ऋषि यज्ञ किया करते थे। अर्थात् यह स्थान जन-बस्तीसे कमसे कम ८-१० मील तो अवश्य ही दूर हुआ करता था। इसके सिवाय इनके यज्ञ भी कोई छोटे नहीं हुआ करते थे। दो कुण्डोंके बीचका अन्तर कमसे कम इतना तो आवश्यक हुआ करता था कि बीचसे एक गाडा आसानीसे निकल जाय। यज्ञमें हजारोंकी उपस्थिति हुआ करती थी। व्यापार और बहुतसी लेनदेन हो जाया करती थी। आजके कांग्रेसके अधिवेशनकी अपेक्षा बहुत बडा जमाव तब हुआ करता था। इसीलिये एक यज्ञके होनेपर १०-१२ मीलका प्रदेश आर्य राज्यमें जुड जाता था। यही कारण था कि आर्य राजा इन यज्ञोंके लिये अपना सहयोग दिया करते थे। क्योंकि इसमें उन्हीं का विशेष लाभ हुआ करता था।

एक स्थानपर यज्ञ सम्पन्न कर लेनेपर वह ऋषि अपनी पर्णकुटीर फिर १५-२० मील आगे लेजाता था और वहाँ पहुँचकर कोई न कोई यज्ञ किया करता था। ऐसा होनेपर अगली भूमि आर्यराज्यसे जोड दीजाती थी। इस कारण राक्षस चिढ जाते थे और उनका यह चिढना स्वाभाविक भी था। बिना युद्धके, बिना किसी हत्याकाण्डके, केवल यज्ञ करने मात्रसे ही उतनी भूमि आर्यराज्यको जोड दी जाती थी!! जहाँ यज्ञ हो जाता था वहाँकी भूमि विधर्मियोंके अधिकारमें रहती ही नहीं थी, इस प्रकारका मानो एक अतिरिक्त नियम ही बन गया था।

इसलिये राक्षसगण यज्ञको पूर्ण होने ही नहीं देते थे। अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित किया करते थे और अन्तमें

यज्ञकर्ता ऋषियोंको वे खा भी जाते थे । इस प्रकारसे मृत ऋषियोंके अस्थिपर्वत दण्डकारण्यमें पड़े हुए थे। इतने बड़े हत्याकाण्डके बावजूद भी ऋषिगण बिना किसी भयके अपने कदम आगे ही बढ़ाया करते थे ! यही कारण था कि आर्योंका आधिपत्य कंबोडियातक हो गया था ।

जहाँ यज्ञ हुआ करता था वहाँ देवताका मन्दिर भी हुआ करता था और जहाँ पवित्र तीर्थ होता था वह स्थान आर्यराज्यमें सम्मिलित होना आवश्यक होता ही था । ऐसे स्थानोंपर विधर्मियोंका अधिकार न रहने पाये, इस ओर ऋषियोंका विशेष ध्यान रहा करता था । इस प्रकारका ध्यान आजकल मुसलमान लोग विशेषरूपसे रखते हैं। और यही स्थिति ईसाइयोंकी भी है । आज जिस स्थानपर स्वाध्यायमण्डल है वह स्थान अमेरिकन ईसाई मिशनका था। उसे हमने खरीद लिया है। इस स्थानपर उनका एक प्रार्थना मन्दिर था। यह मन्दिर हिन्दुओंमें हाथोंके न जाने पावे इसलिये मिशनरियोंने स्वयं ही उस मन्दिरको तोड दिया और उसकी मिट्टी, चूना, ईंटें, पत्थर, लकडी आदि जो कुछ भी था वह सब यहाँसे ले गये !!!

हिन्दुओंमें अपने देवस्थानके विषयमें आज यह भावना नहीं दिखाई देती। किन्तु यज्ञभूमिके विषयमें प्राचीन ऋषि बहुत सावधान रहा करते थे । इस कारण राक्षस लोग ऋषियोंपर आक्रमण करते थे और उनके यज्ञको साङ्ग नहीं होने देते थे । राजालोग ऋषियोंकी सहायता किया करते थे। इसी कारण राम और लक्ष्मण यज्ञ रक्षणार्थ विश्वामित्रके आश्रममें गये थे । विश्वामित्र भी किसी राजा-के राज्यमें यज्ञ न करके राक्षस-व्याप्त स्थानमें ही किया करता था ।

इस प्रकारका आग्रह आज हिन्दुओंमें नहीं दिखाई पडता । आज तो उन्हें इस बातका भी ज्ञान नहीं है कि हमारे पूर्वज इस विषयमें किस प्रकार आग्रह रखा करते थे। क्यों कि आजके हिन्दु तो स्वधर्म प्रचारके सर्वथा विपरीत हो गये हैं । आज अमेरिकन मिशनरी जिस प्रकार अपने ईसाई धर्मके प्रचारार्थ आफ्रिकाके जंगलोंमें तथा हिमालय-के पहाडोंमें वर्षों तक बैठे रहते हैं और जिस प्रकार मध्य युगमें गाणपत्य, वैष्णव, और बौद्ध स्वधर्म प्रचारार्थ देश-परदेशमें घूमा करते थे उसी प्रकार प्राचीन युगमें हमारे ऋषि भी घूमा करते थे, दुःख सहन करते थे, मृत्युका भी सामना करते थे; किन्तु धर्मका प्रचार अवश्य करते थे। मर जाते थे, किन्तु पैर पीछे नहीं हटाते थे। इस कारण उनके जीवनमें उत्साह रहता था। आज भी हमारे गणेशके चित्र और मूर्तियाँ तिब्बत, चीन, मेक्सिको, जावा, सुमात्रा अफगानिस्तान, तुर्किस्तान आदि देशोंमें मिलती हैं । वैष्ण-वोंने मिश्र देशतक वैष्णव धर्मका प्रचार किया था। इसी प्रकार बौद्ध धर्मावलम्बियोंने भी दूर दूर तक अपने धर्मका प्रचार किया था। वैदिक धर्मके ऋषियोंकी भी यही पद्धति थी । विद्याध्ययन समाप्त हो जानेपर जब ब्रह्मचारी तैयार होता था तो वह—

विद्याध्ययनके पश्चात् यात्रा

स पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिकरत् ॥ (अथर्व वेद)

पूर्व समुद्रसे लेकर उत्तर समुद्रतक धर्मका प्रचार करे। लोगोंको वैदिक-धर्मकी दीक्षा दे और फिर स्वयं विवाहित होकर गृहस्थका उपभोग करे । यह थी प्राचीन परिपाटी ।

स्वधर्म प्रचारका यह सम्पूर्ण कार्यक्रम आज हिन्दुओंमें नहीं रहा । परदेश गमन न किया जाय, समुद्र मार्गसे विदेश न जाया जाय, हमारे धर्ममें और किसीका प्रवेश न हो, हम अपने स्थानपर ही रहें, हमपर यदि कोई आक्रमण करे तो उसका प्रतिकार न किया जाय, अपितु उससे मैत्री स्थापित की जावे । यदि वह हमें लूटनेवाला हो तो हम लुट जाँय, इस प्रकारकी भोलेपनकी विचार-धारा आज हममें घर कर गई है । भारतमें हजारों विधर्मी प्रचारक काम करके हमारे हिन्दुओंको दूसरे धर्ममें ले जा रहे हैं। किन्तु विदेशोंमें जाकर हिन्दु धर्मका प्रसार करने-वाला एक भी व्यक्ति नहीं है। यदि कोई विदेशमें जाय, वहाँपर वह प्रचार करे और उधरके किसी व्यक्तिको अपने धर्ममें ले आवे तो उसे पचा लेने जैसी भी स्थिति हमारी नहीं है ।

प्राचीन कालमें अगस्त्य ऋषि एवं उसके अनुयायी दाक्षिण भारत, जावा, सुमात्रा आदि देशोंमें गये थे। कुछ लोग अफगानिस्तान और तुर्किस्तानमें भी गये थे । कश्यप ऋषि-का आश्रम भारतसे हजारों मील दूर था। बहुतसे ऋषि-

तो उत्तर ध्रुव तक भी जाते थे। इन समस्त प्रचारकोंके लिये जनताने कोई फूलोंका मार्ग नहीं बना रक्खा था। बडे बडे कष्ट सहन किये बिना कोई सफल नहीं हुआ है। ऋषिगण इतने अधिक कष्ट सहन किया करते थे; किन्तु फिर भी वैदिक धर्मका प्रचार करते ही थे। उनका एक घोषवाक्य था—

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् ऐ. ब्राह्मण०

समुद्रपर्यन्त फैली हुई पृथ्वीका एक आर्य राजा हो और उसका राज्य वैदिक विधानके अनुसार हो। यह एकमात्र उद्देश्य या उनके जीवनका। यदि यही परम्परा सतत चलती रहती तो एक दिन ऋषियोंका यह उद्देश्य पूर्ण हो जाता। किन्तु बात बिलकुल उलटी होगई ! परदेशमें जाना बन्द हो गया और परायोंको अपने धर्ममें लेना बन्द हो गया। यदि कोई हमारे धर्ममें आजाय तो उसे पचानेकी शक्ति हममें नहीं रही !!

विश्वामित्रके समयके ऋषि जिस प्रकार अखण्ड प्रयत्न करके स्वधर्मका प्रचार किया करते थे उसी प्रकार आज हमें भी करना चाहिये। विचारोंसे विश्वको व्याप्त कर देना चाहिये। मैं एक हूँ, और मैं अनेक बनूंगा। यह आत्माकी स्फूर्ति है। 'एकोऽहं बहु स्यां।' इसे ऋषिगण पूर्ण किया करते थे। धर्म हो या राजनीति हो, उसमें प्रगतिकी अवस्था रहनी चाहिये। पाठक यहाँपर यज्ञसंस्थाकी इस प्रसरण शीलताको देख सकते हैं। इससे उनके अनेक भ्रम दूर होकर नवीन मार्ग मिलेगा।

दिव्य जीवन

(श्री अरविन्द)

अध्याय १०

चिन्मय शक्ति

ते (ध्यान योगानुगता) अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । — श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३.

उन्होंने उस परम देवको अपने ही गुणोंके द्वारा गहरी छिपी हुई आत्मशक्तिका दर्शन किया।

य एष सुप्तेषु जागर्त्ति..... । — कठोपनिषद् ५.८ = यही वह है जो सोते हुओंमें जागता है।

समस्त प्राकृतिक जीवनका मूल है एक शक्ति, क्रिया-शक्तिकी एक गति, जो स्वयं अपने अनुभवके आगे अपने-आपको उपस्थित करनेके अभिप्रायसे न्यूनाधिक जड, न्यूनाधिक स्थूल या सूक्ष्म रूपोंको धारण करती रहती है। प्राचीन रूपकोंमें–जिनके द्वारा मानव-बुद्धिने सत्ताके इस उद्भव और धर्मको अपने लिये बोधगम्य और वास्तव बनानेका प्रयास किया था- शक्तिके इस अनंत जीवनको एक समुद्रका रूप दिया गया था, जो आरंभमें निश्चल है, इसलिये रूपोंसे मुक्त है, किंतु प्रथम विक्षोभ, गतिका प्रथम आरंभ होते ही रूपोंकी सृष्टि आवश्यक हो जाती है और यह विक्षोभ ही एक विश्वको जन्म देनेमें बीज-रूप होता है।

स्थूलभूत शक्तिका वह रूप है जो हमारी बुद्धिके लिये अत्यंत आसानीसे इसलिये गम्य है कि वह स्वयं उन भौतिक संपर्कोंसे गठित हुई है जिनका प्रत्युत्तर भौतिक मस्तिष्कमें फंसा हुआ हमारा मन सदा देता रहता है। प्राचीन भारतीय पदार्थविद्याविदोंके अनुसार जड प्राकृतिक शक्तिका प्राथमिक परिणाम है देशके अंदर शुद्ध भौतिक विस्तारकी अवस्था, जिसका विलक्षण धर्म है कंपन, जो शब्दकी घटनाके द्वारा हमारी चेतनामें लक्षित होता है। परंतु आकाशकी इस अवस्थामें होनेवाला कंपन रूपोंकी सृष्टि करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। इस शक्तिसमुद्रके प्रवाहमें पहले कोई अवरोध, संकोचन और प्रसरणकी कुछ क्रिया, कंपनोंकी कुछ अन्योन्य क्रीडा, शक्ति–शक्तिमें कुछ संघर्ष होना चाहिये जिससे कि स्थिर संबंधों और पारस्परिक प्रभावोंकी सृष्टिका सूत्रपात हो सके। अतः जड प्राकृतिक शक्ति अपनी पहली आकाशमय स्थितिको परिवर्तित कर एक दूसरी स्थितिको ग्रहण करती है, जिसे प्राचीन भाषामें वायव्य स्थिति कहा गया है, इसका विशेष धर्म है शक्ति-शक्तिमें संपर्क-यह संपर्क ही समस्त जड-प्राकृतिक संबंधोंका आधार है। पर अभी भी स्पष्ट रूप नहीं बने हैं, बल्कि केवल विभिन्न शक्तियां ही हैं। एक अग्री तत्त्व चाहिये। और यह काम आदिशक्तिके एक तीसरे आत्म–परिवर्तनके द्वारा होता है, जिसके विशिष्ट स्वभावको हम प्रकाश, विद्युत्, अग्नि और तपके तत्त्वमें देख पाते हैं। पर अभी भी शक्तिके जो रूप निर्मित हुए हैं वे अपने विशेष स्वभाव, अपनी विलक्षण क्रियाको लेकर ही हुए हैं, वे स्थूल प्रकृतिके स्थायी रूप नहीं बने हैं। तब एक चौथी स्थिति जिसका अपना धर्म है फैलाव तथा स्थायी आकर्षण और विकर्षणके लिये प्रथम माध्यमका काम और जिसे बडी ही सुंदर भाषामें अप (जल) या तरल अवस्था कहा गया है और फिर संहतिधर्मी एक पांचवीं स्थिति जो पृथिवी या घन अवस्था कहलाती है- हमारे आवश्यक तत्त्वोंको पूरा करती है।

जडतत्त्वके समस्त ज्ञात रूप, समस्त भौतिक वस्तुएं, सूक्ष्मातिसूक्ष्मतक भी, इन पांच तत्त्वोंके संयोगसे निर्मित होते हैं। इनपर ही हमारे समस्त इंद्रियानुभव निर्भर करते हैं, क्योंकि कंपनोंको ग्रहण करनेके द्वारा श्रुवणेन्द्रियकी सृष्टि होती है; शक्तिके कंपनोंका जो यह जगत् है उसमें वस्तुओंके साथ संपर्कके द्वारा स्पर्शेन्द्रियकी सृष्टि होती है;

आलोक, अग्नि और तापकी शक्तिके द्वारा प्रभावित, अंकित और पोषित आकारोंमें प्रकाशकी क्रियाके द्वारा दर्शनेन्द्रियकी सृष्टि होती है; चौथे तत्त्वके द्वारा रसनेन्द्रियकी तथा पांचवेंके द्वारा घ्राणेन्द्रियकी सृष्टि होती है। शक्ति-शक्तिके बीच कंपनात्मक घात-प्रतिघातोंके द्वारा सार-रूपसे समस्त वस्तुएं स्पष्ट होती हैं। इस प्रकार प्राचीन मुनियोंने शुद्ध शक्ति और उसके अंतिम परिणामोंके बीचकी खाईको पाट दिया है तथा उस कठिनाईको दूर कर दिया है जो सामान्य मानव-मनको यह समझनेमें अड़काती है कि ये समस्त रूप जो उसकी इंद्रियोंके लिये इतने वास्तव, ठोस और टिकाऊ हैं वस्तुतः मात्र क्षणस्थायी घटनाएं ही कैसे हो सकते हैं तथा विशुद्ध क्रियाशक्तिकी चीज, जो इंद्रियोंके लिये अस्तित्वहीन, अस्पृश्य, प्रायः अविश्वसनीय है, एक स्थायी विराट् सद्‌वस्तु कैसे हो सकती है।

इस परिकल्पनासे चेतनाकी समस्या हल नहीं हुई; क्योंकि इसने यह तो बताया ही नहीं कि शक्तिके कंपनोंके संपर्कसे सचेतन संवेदन क्यों पैदा होने चाहिये। इसलिये सांख्योंने अथवा यों कहें कि विश्लेषण बुद्धिवाले मुनियोंने इन पांच तत्त्वोंके पीछे दो और तत्त्वोंको माना जिनको उन्होंने महत् और अहंकार कहा है और जो यथार्थमें जड-प्राकृतिक नहीं हैं; क्योंकि पहला तो केवल शक्तिका विशाल विराट तत्त्व है और दूसरा अहमात्मक रचनाका विभाजक तत्त्व। फिर भी ये दो तत्त्व, साथ ही बुद्धितत्त्व भी स्वयं शक्तिकी बदौलत नहीं, बल्कि एक निष्क्रिय चेतन आत्मा या आत्माओंकी बदौलत चेतनामें सक्रिय होते हैं, जिसमें या जिनमें शक्तिकी कर्मण्यताएं प्रतिबिंबित होती हैं और इस प्रतिबिंबके द्वारा वे चेतनाके रंगमें रंग जाती हैं।

सो ऐसी है वस्तुओंके बारेमें भारतीय दर्शनशास्त्रोंकी कैफियत जो आधुनिक जडवादियोंकी भावनाओंके अत्यंत समीप पड़ती है तथा जो प्रकृतिके अंतर्गत एक यांत्रिक या अचेतन शक्तिकी भावनाको उतनी दूरतक खींच ले गयी है जितना कि गंभीर विचारशील भारतीय मनके लिये संभव था। इसमें दोष जो कुछ भी हों, पर इसकी मुख्य भावना इतनी निर्विवाद है कि साधारणतया वह सभी किसीके द्वारा स्वीकृत हुई है। चेतनाके व्यापारके बारेमें किसी भी प्रकारसे क्यों न समझाया जाय, प्रकृति चाहे एक जडप्रेरणा हो या एक सचेतन तत्त्व, पर इसमें संदेह नहीं कि वह है शक्ति; वस्तुओंका मूल तत्त्व है क्रियाशक्तियोंकी रचनात्मक गति, समस्त रूपोंका जन्म होता है तिरूप शक्तियोंके बीच मिलाप होनेसे, तथा उनके एक दूसरेके अनुकूल होनेसे, समस्त संवेदन और क्रिया हैं शक्तिके रूपमेंकी किसी चीजका वह प्रत्युत्तर जिसे वह शक्तिके अन्य रूपोंके साथ संपर्क होनेपर देती है। ऐसा है यह जगत् जैसा कि वह हमारे अनुभवमें आता है और इसी अनुभवको लेकर हमें सदा आगे बढ़ना होगा।

आधुनिक सायंसके द्वारा किया हुआ जडतत्त्व संबंधी विश्लेषण भी इसी साधारण निर्णयको प्राप्त हुआ है, यद्यपि कुछ अंतिम संदेह अभी भी रह गये हैं। अंतर्ज्ञान और अनुभव जडविज्ञानके और दर्शनशास्त्रके इस मतैक्यका समर्थन करते हैं। विशुद्ध बुद्धिको इसके अंदर अपनी निजी सारभूत धारणाएं मिलती हैं और इससे उसको संतोष हो जाता है। क्योंकि इस जगत्‌को मूलतः चेतनाका एक कर्म कहनेके विचारमें भी यह आशय तो समाया हुआ है ही कि यह एक कर्म है और कर्मके अंदर यह कि वह शक्तिकी गति है, क्रियाशीलकी लीला है। और जब हम अपने आंतर अनुभवसे जांचते हैं तब भी यही प्रमाणित होता है कि जगत्‌का यही मूलगत स्वभाव है। हमारी समस्त कर्मण्यताएं विविध शक्तिकी लीला है, जिसे प्राचीन दर्शनशास्त्रोंमें ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति कहा गया है। और वास्तवमें ये सब उस एक मूल आद्या शक्तिकी तीन धाराएं हैं। हमारी विश्रामकी अवस्थाएं भी केवल उसकी गतिकी लीलाकी साम्यावस्था या संतुलित अवस्थाएं हैं।

इस बातको स्वीकार कर लेनेपर कि शक्तिकी गति ही है इस विश्वब्रह्मांडका सारा स्वभाव, दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला यह कि सत्‌के विशाल वक्षमें यह गति कैसे शुरू हुई? यदि हम यह मानें कि गति केवल शाश्वत ही नहीं है, बल्कि समस्त अस्तित्वका यही सार है, तब तो यह सवाल ही नहीं उठता। परंतु इस सिद्धांतको तो हम अस्वीकार कर चुके हैं। हम एक ऐसे सत्‌को जान चुके हैं जो गतिकी हुकूमतके परे है। तब फिर यह गति, जो उसकी शाश्वत विश्रांतिके विरुद्धधर्मवाली है, उसमें कैसे होती है?

किस कारणसे ? किस संभावनासे ? किस रहस्यमय प्रेरणासे ?

इस विषयमें जिस उत्तरका प्राचीन भारतीय विद्वानोंने सबसे अधिक समर्थन किया था वह यह था कि शक्ति सत्में समायी हुई है। शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक हैं, दो नहीं, और वे अभिन्न हैं। सत्में निहित शक्ति दोनों ही प्रकारसे रह सकती है, विश्रामकी अवस्थामें भी और गतिकी अवस्थामें भी, पर जब वह विश्रामकी अवस्थामें होती है तब भी उसका अस्तित्व तो रहता ही है और न तो उसका उच्छेद हो जाता न वह क्षीण ही हो जाती न मूलतः उसका कोई परिवर्तन ही हो जाता है। यह उत्तर इतना युक्तियुक्त तथा वस्तुओंके स्वभावके साथ संगत है कि इसको स्वीकार करनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह अनुमान करना असंभव है, कारण यह बात युक्तिविरुद्ध है कि शक्ति उस एक और अनंत सत्के लिये कोई परकीय वस्तु है और कहीं बाहरसे आकर उसमें प्रविष्ट हो गयी है, या यह कि इसका कोई अस्तित्व ही नहीं था और कालके किसी विशिष्ट क्षणमें यह उसके अंदर पैदा हो गयी। मायावादको भी यह स्वीकार करना होगा कि माया अर्थात् ब्रह्मकी स्वात्ममायाशक्ति शाश्वत सत्तामें एक संभावनाके रूपमें चिर वर्त्तमान है, और तब एकमात्र प्रश्न रहता है उसका प्राकट्य या अप्राकट्य। सांख्य भी इस बातका प्रतिपादन करता है कि प्रकृति और पुरुषका अस्तित्व शाश्वत रूपसे युगपत् है और यह कि प्रकृतिकी क्रमागत द्विविध अवस्थाएं होती हैं– एक है उसकी विश्रामावस्था या साम्यावस्था और दूसरी है उसकी गतिकी अवस्था या उस साम्यावस्थामें क्षोभकी अवस्था।

परंतु इस प्रकार शक्ति जब सत्में निहित है तथा विश्रांति और गतिकी, अर्थात् शक्तिमें आत्म-समाहार और शक्तिमें आत्मविस्तारकी दोहरी या क्रमागत संभावना जब शक्तिमें स्वभावतः है तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वह गति कैसे हुई, न इसकी संभावना, इसकी आरंभिक प्रेरणा या इसके प्रेरक कारणके बारेमें ही कोई प्रश्न उठ सकता है। क्योंकि तब तो हम यह धारणा सहज ही कर सकते हैं कि इस संभावनाका यही परिणाम हो सकता है कि या तो कालके अंदर बारी-बारीसे विश्राम और गतिकी अवस्थाओंका छंदोबद्ध रीतिसे आना-जाना लगा रहे या फिर अक्षर सत्में शक्तिके शाश्वत आत्मसमाहारके ऊपर गति, परिवर्तन और रूपायनकी वैसी ही बाह्य लीला होती रहे जैसे कि समुद्रकी सतहपर लहरें उठतीं और गिरती हैं। और यह बाह्य लीला-अवश्य ही जो रूपक दिये गये हैं वे भावोंको व्यक्त करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं– हो सकता है कि उस आत्म-समाहारकी या तो समवयस्का और खुद भी सनातनी है या कालके अंदर इसका आदि और अंत है और किसी सतत छंदके द्वारा पुनः पुनः आरंभ की जाती है, पर तब यह निरवच्छिन्नताके रूपमें सनातनी नहीं है, बल्कि पुनरावृत्तिके रूपमें सनातनी है।

इस प्रकार इस समस्याका कि यह गति उसमें कैसे होती है, निराकरण हो जानेपर यह प्रश्न स्वतः उपस्थित होता है कि यह क्यों होती है ? शक्तिकी जो गति है उसकी लीलाकी इस संभावनाको कार्यमें परिणत होना ही क्यों चाहिये ? सत्के भीतर जो शक्ति है उसे सदा आत्म-समाहृत, अनंत तथा समस्त परिवर्तनों और रूपायनोंसे मुक्त क्यों न रहना चाहिये ? परंतु यह प्रश्न भी नहीं उठता कि यदि हम यह मानें कि सत् अचेतन है और चेतना उस जड़प्राकृतिक क्रिया शक्तिका मात्र एक विकास है जिसे हम मूलसे चिन्मय कहते हैं। क्योंकि तब यह कह देनेसे हमारा काम चल जाता कि यह छंदोबद्धता सत्में बसनेवाली शक्तिका स्वभाव है और जो वस्तु अपने स्वभावमें शाश्वतरूपसे स्वयंभू है उसके बारेमें यह ढूंढनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि वह क्यों है, किस कारणसे है तथा उसका आरंभिक प्रेरक भाव या अंतिम हेतु क्या है। उस सनातन स्वयंभू सत्के सामने इस प्रश्नको उपस्थित करें न तो हम उससे ही पूछ सकते हैं कि वह क्यों है या यह कि वह अस्तित्वमें कैसे आया; न इस प्रश्नको हम सत्की आत्मशक्तिके और गतिकी ओर प्रेरित होनेवाले उसके अंतर्निहित स्वभावके आगे ही उपस्थित कर सकते हैं। तब, जो कुछ हमारी जिज्ञासाका विषय हो सकता है वह है उसके आत्म-प्राकट्यकी रीति, गति और रूपायन संबंधी उसके तत्त्व, विकासकी उसकी प्रक्रिया। सत् और शक्ति दोनों ही जब जड़ हैं— जड़ स्थिति और जड़ प्रेरणा-दोनों ही जब अचेतन और निर्बोध हैं तब विकासका न तो कोई हेतु या अंतिम लक्ष्य हो सकता है न कोई मूल कारण या आशय।

परंतु यदि हम सत्‌को चिन्मय पुरुष मानें या पावें तब समस्या उपस्थित होती है। अवश्य ही हम यह मान ले सकते हैं कि एक चिन्मय पुरुष है जो अपनी शक्तिके स्वभाव और हुकूमतके अधीन है, जिसको ऐसी किसी पसंदगीकी स्वाधीनता नहीं कि आया वह इस विश्वमें प्रकट हो या अप्रकट बना रहे। तांत्रिकों और मायावादियोंका ईश्वर ऐसा ही है जो शक्ति या मायाके अधीन है— यह वह पुरुष है जो मायामें फंसा हुआ है या शक्तिके द्वारा नियंत्रित है। परंतु स्पष्ट ही ऐसा कोई ईश्वर वह परम अनंत सत् नहीं है जिसको लेकर हम आगे बढे हैं। अवश्य ही यह विश्वगत ब्रह्मका उस ब्रह्मके द्वारा केवल एक रूपायन है जो स्वयं न्यायतः शक्ति या मायाके पहलेसे अस्तित्व रखता है और शक्ति जब कर्मसे निवृत्त होती है तब उसको अपनी विश्वातीत सत्तामें ले लेता है। ऐसे चिन्मय सत्‌में जो केवल है, अपने रूपायनोंसे स्वतंत्र है, जो अपने कर्मोंसे प्रभावान्वित नहीं होता, गतिकी संभावनाको प्रकट करने या न करनेकी स्वतंत्रता निहित है- इस बातको हमें मानना ही होगा। प्रकृतिकी हुकूमतके अधीन ब्रह्म भी क्या कोई ब्रह्म है, उसको तो एक ऐसा जड अनंत कहना होगा जिसके अंदर एक ऐसा सक्रिय आधेय है जो स्वयं आधारसे भी अधिक बलवान् है, उसको तो शक्तिका एक ऐसा चिन्मय धर्त्रा कहना होगा जिसकी शक्ति ही उसकी स्वामिनी है। फिर यदि हम कहें कि वह और किसीके द्वारा नहीं बल्कि शक्तिके रूपमें अपने-आपके द्वारा, अपने ही स्वभावके द्वारा गतिकी अवस्थाको प्राप्त होनेके लिये बाध्य होता है तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने ही पहले सिद्धांतका विरोध करते और उसे चालाकीके साथ टाल रहे हैं। फिर हम अपनेको एक ऐसे सत्‌के पास पाते हैं जो वस्तुतः और कुछ नहीं बल्कि शक्ति है, फिर चाहे वह विश्रामकी अवस्थामें हो या गतिकी अवस्थामें-शायद उसको हम अद्वितीया परमा शक्ति भी कह सकें, पर वह अद्वितीय परम पुरुष तो नहीं ही है।

इसलिये यह आवश्यक है कि हम यह जांच लें कि शक्ति और चैतन्यके बीच क्या संबंध है। परंतु चैतन्य या चेतना शब्दसे हमारा क्या अभिप्राय है? साधारणतया इस शब्दसे हमारा अभिप्राय प्रायः वही होता है जो इस विषयमें हमारी पहली स्पष्ट भावना है, अर्थात् यह एक वैसी ही मानसिक जाग्रत चेतना है जैसी कि मनुष्यको उसके शारीरिक जीवनके अधिकांश भागमें प्राप्त है, तब जब कि वह निद्रामें न हो, अचेतन हो गया हो या और किसी प्रकारसे अपने संवेदनकी भौतिक और बाह्य प्रणालियोंसे वंचित न कर दिया गया हो। इस अर्थमें यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतना जड प्राकृतिक विश्वकी व्यवस्थामें एक व्यतिक्रम है न कि उसका सामान्य धर्म। हम कुछ भी तो उसपर सदा स्वत्व नहीं रखते। परंतु चेतनाके स्वभावके बारेमें जो यह गंवारू और छिछली मान्यता है, जिसका हमारे सामान्य कोटिके विचार और संस्कारोंपर यद्यपि अभी भी रंग जमता है फिर भी दार्शनिक चिंतनमें तो अब इसका कोई स्थान रहना ही नहीं चाहिये। क्योंकि हम यह जानते हैं कि जब हम निद्रामें होते या अचेत हो जाते या मादक ओषधिके प्रयोगके द्वारा बेहोश कर दिये जाते या मूर्छित अवस्थामें होते हैं, अर्थात् जब हम अपनी भौतिक सत्ताकी सभी प्रकारकी अचेतन अवस्थामें होते हैं तब भी हमारे अंदर कोई चीज ऐसी है जो चेतन रहती है। इतना ही नहीं बल्कि अब हमको इस बातका भी निश्चय हो जाना चाहिये कि प्राचीन मनीषियोंकी यह घोषणा ठीक ही थी कि हमारी जाग्रत अवस्थामें भी जिस वस्तुको हम अपनी चेतना कहते हैं वह हमारी संपूर्ण चिन्मय सत्ताका एक छोटासा चुना हुआ अंश मात्र ही है। वह तो बिलकुल एक बाहरी भाग है, वह तो हमारा समग्र मानस भी नहीं है। उसके पीछे, उससे कहीं अधिक विशाल, एक प्रच्छन्न या अवचेतन मानस है जो हमारी सत्ताका बृहत्तर भाग है, जिसमें इतनी उत्तुंगताएं और अगाधताएं हैं कि आजतक कोई भी मनुष्य न तो उन ऊंचाइयोंको नाप सका है न उन गहराइयोंकी थाह ले सका है। यह ज्ञानशक्ति और उसकी क्रियाओंके संबंधमें सच्चे सायंसका आरंभ करनेके लिये हमें एक दृष्टिबिंदु देता है; यह निश्चित रूपसे हमें जडपदार्थके घेरेसे तथा बाह्य रूपोंकी मायासे मुक्त कर देता है।

अवश्य ही जडवादका यह आग्रह है कि चैतन्यका विस्तार कितना ही क्यों न हो, है वह एक जड-प्राकृतिक वस्तु जिसे हम हमारे भौतिक अवयवोंसे अलग नहीं कर

सकते और यह चैतन्य इन अवयवोंका प्रयोग करनेवाला नहीं, बल्कि इनका परिणाम है। पर यह कट्टरपंथी मत परिवर्धनशील ज्ञानकी ज्वारके धक्कोंके आगे मैदानमें अब डटा नहीं रह सकता। इसकी व्याख्याएं अधिकाधिक अपर्याप्त और क्लिष्ट होती जा रही हैं। दिन-पर-दिन यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि केवल इतना ही नहीं कि हमारी समग्र चेतनाकी क्षमता हमारे अवयवों, अर्थात् इंद्रियों, स्नायुतंतुओं और मस्तिष्ककी क्षमतासे कहीं अधिक है, बल्कि ये अवयव तो हमारे सामान्य विचार और चेतना के भी अभ्यस्त यंत्र हैं, उनके जनक नहीं। चेतना मस्तिष्क का प्रयोग करती है, जिसे उसके ऊर्ध्वमुखी प्रयासने पैदा किया है; मस्तिष्कने न तो चेतनाको पैदा ही किया है, न वह उसका प्रयोग ही करता है। ऐसे असाधारण उदाहरण भी हैं जिनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि हमारे अवयव कोई नितांत अपरिहार्य यंत्र नहीं हैं—जीवनके लिये हृद्‌गति तथा श्वासोच्छ्वास सर्वथा आवश्यक नहीं हैं, न चिंतनके लिये संगठित मस्तिष्ककोषोंकी ही कोई अपरिहार्य आवश्यकता है। हमारा देहयंत्र चिंतन और चेतनाका न तो कारण ही है न उनके कार्यके बारेमें कुछ बतला ही सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक इंजन न तो वाष्प और विद्युतकी प्रेरक शक्ति या कारण है न उनके बारेमें कुछ बतला ही सकता है। शक्तिका अस्तित्व पहलेसे है न कि भौतिक यंत्रका।

तब इसके परिणामस्वरूप कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चूंकि जहां हम निर्जीवता और जड़ता देखते हैं वहां भी मानसिक चेतनाका जब अस्तित्व है तब क्या यह संभव नहीं कि जड़ पदार्थोंमें भी एक विश्वव्यापी अवचेतन मन वर्तमान है, यद्यपि अवयवोंके अभावमें वह कार्य करने या अपने ऊपरी तलोंपर अपने-आपको व्यक्त करनेमें असमर्थ है। जड़-प्राकृतिक स्थिति क्या चेतनाकी रिक्तता है अथवा क्या यह नहीं कहा जा सकता कि वह चेतनाकी मात्र एक निद्रावस्था है—यद्यपि क्रमविकासके दृष्टिकोणसे वह एक मौलिक निद्रा है न कि कोई बादमें ली हुई निद्रा? और मानव जीवनके उदाहरणसे हम यह पाते हैं कि निद्रामें हमारा अभिप्राय चेतनाका बंद हो जाना नहीं बल्कि उसका बाह्य वस्तुओंके संस्पर्शजनित सचेतन भौतिक प्रतिक्रियासे दूर, अंदरकी ओर समाहृत हो जाना है। और इस जगत्‌का वह समस्त जीवन जिसने अभी बाह्य भौतिक जगत्‌के साथ बहिर्मुखी आदान-प्रदानके साधनोंका विकास नहीं किया है क्या उपर्युक्त प्रकारकी कोई एक निद्रा ही नहीं है? क्या कोई चिन्मय आत्मा या पुरुष नहीं है जो सभी सोनेवालोंके अंदर सदा जागता रहता है?

हम और आगे बढ़ सकते हैं। जब हम अवचेतन मनकी बात कहते हैं तब इस वाक्यसे हमें यही समझना चाहिये कि वह बाहरी मनसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है, बल्कि यह कि जाग्रत मनुष्यको मालूम पड़े बिना ही वह ऊपरी तलके केवल नीचे-नीचे पर इस मनकी भांति ही कार्य करता है जो शायद अधिक गहराईमें होता है और जिसका क्षेत्र भी शायद अधिक व्यापक होता है। परंतु प्रच्छन्न पुरुष (Subliminal self) की घटनाएं तो इस तरहके निर्वचनकी सीमाओंका बहुत अधिक अतिक्रमण करती हैं। उसके अंदर एक ऐसी क्रिया है जो केवल क्षमतामें ही अत्यंत श्रेष्ठ नहीं, बल्कि जिस क्रियाको हम अपनी जाग्रत सत्तामें मनके रूपमें जानते हैं उससे सर्वथा भिन्न प्रकारकी है। इसलिये हमें यह माननेका हक हो जाता है कि हमारे अंदर जैसे एक अवचेतना है वैसे ही एक अतिचेतना है, चिन्मय वृत्तियोंका एक तांता लगा हुआ है और इसलिये चेतनाका एक ऐसा संगठन है जो उस मनस्तात्विक स्तरसे बहुत ऊपरकी ऊंचाई तक चढ़ा हुआ है जिसे हम मनके नामसे पुकारते हैं। और जब कि हमारे अंदर बसनेवाला प्रच्छन्न पुरुष इस प्रकार मनके ऊपर उठता और अतिचेतनाकी ऊंचाई पर जाता है तो क्या वह मनके नीचे जो अवचेतना है उसमें डुबकी नहीं लगा सकता? हमारे अंदर तथा इस जगत्‌के अंदर चेतनाके ऐसे रूप क्या नहीं हैं जो अवमानसिक (Submental) है, जिनको हम प्राणमय चेतना और भौतिक चेतना कह सकें? यदि ऐसा है तो हमें यह मानना ही होगा कि वनस्पति और धातुमें भी एक शक्ति है जिसे चेतना कहा जा सकता है, यद्यपि यह चेतना वह मानव या पशु-मन नहीं है केवल जिसे ही हम अभीतक चेतना कहते आये हैं।

यह केवल संभव ही नहीं बल्कि निश्चित है, यदि हम वस्तुओंके बारेमें निष्पक्षभावसे विचार करें। हमारे अंदर

एक ऐसी प्राणगत चेतना है जो शरीरके कोषोंमें तथा स्वतः प्रवृत्त प्राणमय व्यापारोंमें कार्य करती है जिससे हम उन सहेतुक क्रियाओंको करने तथा उन राग-द्वेषोंके अधीन हो जाते हैं जिन्हें हमारा मन नहीं जानता । यह प्राणमय चेतना पशुओंमें और भी प्रमुख रूपसे है। वनस्पतियोंके अंदर यह हमारे अंतर्ज्ञानके आगे प्रत्यक्ष होती है। वनस्पतिमें जो चाह और संकोचकी क्रियाएं होती हैं, इसको जो सुख और दुःख होते हैं, उसमें जो निद्रा और जागरणकी गतियां होती हैं तथा इसके वे सारे अद्भुत जीवन; जिनके सबको एक भारतीय सायंसविद्ने सर्वथा जड-वैज्ञानिक प्रणालियोंके द्वारा-प्रकाश दिया है, चेतनाकी ही क्रियाएं हैं, पर, जहांतक हमारे देखनेमें आता है, मनकी नहीं। तब एक अवमानस, एक प्राणमय चेतना है जिसकी आरंभिक प्रतिक्रियाएं वैसी ही होती हैं जैसे कि मानसिक चेतनाकी, पर यह अपने स्वानुभवके संगठनमें भिन्न प्रकार की है, वैसे ही जैसे कि अतिचेतन सत्ता अपने स्वानुभवके संगठनमें मानसिक सत्तासे भिन्न प्रकारकी है ।

तो क्या जिसे हम चेतना कह सकते हैं उसकी पांक्ति वनस्पतिके बाद जिसमें हम प्राक्पाशव (Subauimal) जीवनका होना स्वीकार करते हैं, समाप्त हो जाती है? यदि ऐसा हो तो हमको यह मानना पडेगा कि जीवन और चेतनाकी एक अपनी शक्ति है जो जड-तत्वके लिये मूलतः परकीय है, पर फिर भी जो जडतत्वमें शायद किसी दूसरे लोकसे × आकर-प्रविष्ट हो गयी है और बस गयी है। क्योंकि इसके अतिरिक्त यह और कहांसे आ सकती थी? प्राचीन मनीषि इस प्रकारके दूसरे जगतोंके अस्तित्वको मानते थे जो संभवतः हमारे जगत्के जीवन और चैतन्यका भरण पोषण करते या अपने प्रभावके द्वारा इन्हें अभिव्यक्त भी करते हैं, पर इनमें प्रवेश कर इनकी सृष्टि नहीं करते। जडतत्वमेंसे ऐसी किसी वस्तुका विकास नहीं हो सकता जो उसमें पहलेसे ही आधेयरूपसे न हो ।

परंतु यह माननेका कोई कारण नहीं है कि जो कुछ हमें नितांत स्थूल-भौतिक दीखता है उसमें जीवन और चैतन्य-रूपी सरगम बजता ही नहीं, यों कहें कि वहां पहुंचते ही हठात् बंद हो जाता है । आधुनिक अन्वेषण और चिंतनका विकास, ऐसा मालूम होता है कि, धातु और पृथिवीमें तथा दूसरे-दूसरे 'निर्जीव' रूपोंमें जीवनके धुंधलेसे आरंभका, और शायद एक प्रकारकी जड या दबी हुई चेतनाकी मान्यताका संकेत करता है अथवा यों कहें कि हमारे अंदर जो कुछ चेतन बनता है कम-से-कम उसका प्रथम उपादान तो वहां हो सकता है। तब होता केवल यही है कि, मैंने जिस वस्तुको प्राणमय चेतना कहा है इसके अस्तित्वको यद्यपि हम वनस्पतिमें कुछ कुछ देख पाते तथा उसकी कुछ कुछ धारणा कर पाते हैं, पर स्थूलभूतकी, जडरूपकी चेतनाको समझना या इसकी कल्पना करना निश्चय ही हमारे लिये कठिन होता है और जिस वस्तुको समझने या कल्पनामें लानेमें हमें कठिनाई होती है उसके अस्तित्वको अस्वीकार करनेका हमें हक है— ऐसा हम मानने लगते हैं। परंतु चेतनाका अनुगमन करके इसको हमने इतनी गहराइयोंतकमें पाया है तब यह बात माननेके लायक नहीं रहती कि प्रकृतिमें यह जो हठात् खाईसी दिखायी देती है वह सत्य है। चिंतनको यह अधिकार है कि वह एक एकत्वको माने जब कि घटनाओंकी सभी श्रेणियां इस एकत्वके अस्तित्वको स्वीकार करती है और एक ही श्रेणीमें यह अस्वीकृत नहीं बल्कि दूसरी-दूसरी श्रेणियोंकी अपेक्षा केवल अधिक गुप्तरूपसे है, ऐसा बोध होता है । और यदि इस एकत्वको हम अटूट मानते हैं तो हम इस निर्णयको प्राप्त होते हैं कि इस जगत्में क्रियाशील जो शक्ति है उसके सभी रूपोंमें चेतनाका अस्तित्व है । यदि समस्त रूपोंमें निवास करनेवाला कोई चेतन या अतिचेतन पुरुष न हो तो भी इन रूपोंमें सत्ताकी एक चिन्मय शक्ति है, जिसके इन रूपोंके बाह्यभाग भी प्रत्यक्ष या निक्षेप रूपसे भागीदार हैं।

अवश्य ही इस दृष्टिके अनुसार चेतना शब्दका अर्थ बदल जाता है । अब यह मनका पर्यायवाची शब्द नहीं है, बल्कि सत्की एक इस स्वात्म-चेतन शक्तिका निर्देशक

× आजकल एक विचित्र विचार फैला हुआ है कि प्राणने पृथिवीमें किसी दूसरे लोकसे नहीं, बल्कि किसी दूसरे ग्रहसे प्रवेश किया है । पर तत्व जिज्ञासुके लिये इसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। मूल प्रश्न यह है कि जडतत्वमें आखिर प्राण आया ही कैसे, यह नहीं कि किसी विशिष्ट ग्रहसे जडतत्वमें इसका प्रवेश कैसे हुआ।

है, मन जिसका मात्र एक बीचका पद है; मनके नीचे यह शक्ति उन प्राणमय और जड़-प्राकृतिक गतियोंमें उतरती है जो हमारे लिये अवचेतन हैं; मनके ऊपर यह अतिमानसमें चढ़ती है जो हमारे लिये अतिचेतन है। परंतु सभीमें अपने-आपको विभिन्न प्रकारसे संगठित करती हुई, वही एकमेवाद्वितीया शक्ति है। यही है, एक बार फिर दोहरा दें, सच्चिदानंदकी चित्-शक्तिकी भारतीय धारणा जो, क्रियाशक्ति-रूपसे, जगतोंका सर्जन करती है। सार-रूपसे, हम उस एकत्वको ही प्राप्त होते हैं जिसे जड़वादी सायंस दूसरे छोरसे तब देखता है जब वह यह प्रतिपादन करता है कि मन जड़तत्त्वसे भिन्न कोई शक्ति नहीं हो सकता, बल्कि वह तो जड़प्राकृतिक क्रियाशक्तिका केवल विकास और परिणाम मात्र ही है। दूसरी ओर, भारतीय गभीरतम चिंतन यह प्रतिपादन करता है कि मन और जड़तत्त्व इस एक ही क्रियाशक्तिके विभिन्न पद हैं, सत्की उस एकमेवाद्वितीया चित्-शक्ति (चित्-तपस) के विभिन्न संगठन हैं।

परंतु हमें यह मान लेनेका क्या अधिकार है कि चेतना कह देनेसे उस शक्तिका यथार्थ वर्णन हो गया ? क्योंकि चेतनाका अर्थ है किसी प्रकारकी बुद्धि, सहेतुकत्व और आत्मज्ञान, फिर चाहे ये उन रूपोंको न भी धारण करें जो हमारे मनके अभ्यस्त रूप हैं। इस दृष्टिकोणसे भी सब कुछ एक विश्वव्यापी चिन्मय शक्तिकी धारणाका समर्थन ही करता है, न कि विरोध। उदाहरणके लिये पशुमें हम एक निर्दोष सहेतुकत्वकी क्रियाओंको तथा एक सटीक, यों कहें कि कसौटीकी जांचपर हूबहू ठहरनेवाले, एक सूक्ष्म ज्ञानको देख पाते हैं जो पशुके मनकी क्षमताओंके सर्वथा परे हैं और स्वयं मनुष्य भी जिनको एक लंबी संस्कृति और शिक्षाके बाद ही पाता है और तब भी उनका प्रयोग कहीं कम निश्चित क्षिप्रताके साथ करता है। यह सर्व साधारण तथ्य हमारे सामने इस बातको प्रमाणित कर देता है कि पशु और कीट पतंगोंमें सक्रिय एक ऐसी सचेतन शक्ति है जो पृथिवीपर आजतक किसी भी व्यक्तिगत रूपमें प्रकट हुए बड़े-से-बड़े मनसे भी अधिक प्रज्ञ है, अधिक सहेतुक है, अपने अभिप्रायसे, अपने लक्ष्योंसे, अपने साधनोंसे, अपनी अवस्थाओंसे अधिक अवगत है। और जड़प्रकृतिकी क्रियाओंमें हम एक निगूढ़ प्रज्ञाके उसी व्यापक स्वभावको पाते हैं— 'स्वगुणैर्निगूढाम्' (अपने ही गुण-कर्मोंमें छिपी हुई)।

यह जो सहेतुक कर्म है, बुद्धि, निर्वाचन (Selection) प्रतियोजन (Adaptation) और चाहका जो यह कर्म है इसका कोई सचेतन और प्रज्ञ उद्‌गम है इसके विरुद्ध जो एकमात्र दलील पेश की जा सकती है वह है प्रकृतिकी क्रियाओंमें वह बड़ीसी चीज जिसे हम अपव्ययका नाम दिया करते हैं। परंतु स्पष्ट ही इस आपत्तिका आधार है हमारी उस मानव-बुद्धिकी सीमाएं जो अपनी इस खास भौतिकताको, जो परिसीमित मानव उद्देश्योंके लिये उपयोगी होती है, जगत् शक्तिकी सर्व साधारण क्रियाओंपर लादना चाहती है। प्रकृतिके उद्देश्यके केवल एक ही भागको हम देख पाते हैं और जो कुछ उस भागके लिये उपयोगी नहीं होता उसे अपव्यय कहने लगते हैं। पर हमारा अपना मानव-कर्म भी इस आपातदृश्य अपव्ययसे हो तो भरा हुआ है, कम-से-कम व्यक्तिगत दृष्टिकोणसे तो वह ऐसा ही दीखता है, पर फिर भी जो निश्चय ही वस्तुओंके विशाल और विश्वव्यापी उद्देश्यकी पूर्तिमें अच्छी तरह सहायक होता है। प्रकृतिके अभिप्रायके जितनेसे अंशको हम देख पाते हैं उसको वह अपने आपातदृश्य अपव्ययके बावजूद भी, शायद उसके कारण ही सिद्ध करा लेती है। उसके अभिप्रायके बाकीके अंशको भी, जिसे अभी हम नहीं देख पाते वह सिद्ध करा लेगी इस बातके लिये हम सर्वथा उसका भरोसा कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, निश्चित हेतुका जो संचालन है, आपातदृश्य अंधप्रवृत्तिका जो परिचालन है, वांछित लक्ष्यके पास तुरत या अंतमें निश्चितरूपसे जो गमन है, जो पशुमें, वनस्पतिमें, निर्जीव वस्तुओंमें जगत्-शक्तिकी क्रियाओंके परिचायक है— इन सबकी अवहेलना नहीं की जा सकती। स्थूलभूत ही जबतक सायंसवालोंका इदमित्थं था, तबतक उनका प्रज्ञाको बुद्धिकी माता स्वीकार करनेसे इनकार करना एक सच्ची दुविधामें गिना जा सकता था। परंतु अब यह कहना कि मनुष्यकी चेतना, बुद्धि और प्रभुत्व किसी उस अबोध, अंधवत् धावित अचेतनासे निकले हैं जिसमें उनका

कोई रूप या उपादान पहले नहीं था— यह तो एक जीर्ण-शीर्ण असत्याभास है। मनुष्यकी चेतना प्रकृतिकी चेतनाके एक रूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनके नीचे यह अपने दूसरे-दूसरे अविकसित रूपोंमें वर्तमान है, मनमें यह उदित होती है और यह आरोहण करेगी मनके परे उससे भी श्रेष्ठरूपोंमें। क्योंकि जो शक्ति जगतोंका निर्माण करती है वह चित्-शक्ति है, उनमें जो सत् अपने-आपको प्रकट करता है वह चिन्मय पुरुष है और उसका रूपोंके इस जगत्को प्रकटानेका एकमात्र युक्तिगम्य उद्देश्य है रूपमें उसकी अपनी संभावनाओंका पूर्ण विकास।

अध्याय ११

अस्तित्वका आनन्द–समस्या

(१) कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात। यदेश आकाश आनन्दो न स्यात्॥ तैत्तिरीय उपनिषद् २-७

कौन जी सकता या सांस ले सकता यदि यह सत्का आनन्द ही आकाश रूपमें, जिसमें हम रहते हैं, न होता?

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तैत्तिरीय उपनिषद् ३-६

आनन्द ही से सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्द ही से वे जीते और बढते हैं, आनन्द ही से वे लौट जाते हैं।

परन्तु यदि हम यह स्वीकार भी करें कि यह शुद्ध सत्, यह ब्रह्म वस्तुओंका एकमेवाद्वितीय आदि, अन्त और आधार है तथा ब्रह्ममें अन्तर्निहित एक आत्म-चेतना है जो उसकी सत्तासे अभिन्न है और चेतनाकी गतिकी उस शक्ति रूपसे अपने आपका प्रक्षेप करती रहती है जो शक्तियों, रूपों तथा जगतोंकी सृजनकर्त्री है, तो भी इस प्रश्नका उत्तर हमें अभीतक नहीं मिला कि' ब्रह्म, जो पूर्ण है, केवल है, निरपेक्ष और निष्काम है अपने अन्दर रूपोंके इन जगतोंकी सृष्टि करनेके लिये चेतनाकी इस शक्तिका प्रक्षेप करता ही क्यों है? क्योंकि हमने इस समाधानको नहीं माना है कि वह अपने ही स्वभावकी शक्तिके द्वारा सृष्टिकी रचना करनेके लिये बाध्य होता है। अपनी गतियों एवं रूपायनोंकी सम्भावनाके द्वारा रूपोंमें विचरनेके लिये विवश होता है। यह सत्य है कि यह सम्भावना उसमें है, पर वह इससे सीमित, बद्ध या बाध्य नहीं है, वह स्वतन्त्र है। तब फिर गमन करने या शाश्वत रूपसे अचल रहनेके लिये, रूपोंमें अपने आपको प्रक्षिप्त करने या रूपकी सम्भावनाको अपने भीतर ही समाई हुई रखनेके लिये स्वतन्त्र होते हुए भी यदि वह गीत और रूपायनकी अपनी शक्तिमें रमण करता है तो अवश्य ही वह इस कार्यको एक ही बातके लिये अर्थात् आनन्दके लिये ही करता है।

यह आदिम, अन्तिम एवं शाश्वत सत्, जैसा कि वेदान्तियोंने देखा है, केवल एक शून्य सत् नहीं है, न यह ऐसा चिन्मय सत् है जिसकी सत्ताकी, जिसकी चेतनाकी स्वयं अवस्था ही है आनन्द। जैसे पूर्ण सत्में शून्यता नहीं हो सकती, अचेतनाकी रात्रि नहीं हो सकती, अपूर्णता या त्रुटि नहीं हो सकती, अर्थात् शक्तिकी कमी नहीं हो सकती-क्योंकि यदि इनमें की कोई वस्तु उसमें होती तो वह पूर्ण न होता—उसी प्रकार उसमें दुःख नहीं हो सकता आनन्दका नकार नहीं हो सकता। चिन्मय अस्तित्वका कैवल्य चिन्मय अस्तित्वका असीम आनन्द ही है, ये एक ही वस्तुके सूचक केवल दो भिन्न शब्द हैं। समस्त असीमता, सम्पूर्ण अनन्तता, समस्त कैवल्य शुद्ध आनन्द ही है। हमारी आपेक्षिक मानवताको भी यह अनुभव होता है कि असंतोषका अर्थ है एक सीमा, एक प्रतिबन्ध, सन्तोष तब होता है जब कोई अटकाई हुई वस्तु प्राप्त हो जाती, सीमा पार कर ली जाती तथा बाधा दूर कर दी जाती है। क्योंकि मूलसत्ता वह केवल है जिसका अपने अनन्त और असीम आत्म-चैतन्य तथा आत्म-बलपर पूर्ण स्वत्व है और इस आत्म-वत्ताका ही दूसरा नाम है आत्मानन्द; और

जिस अनुपातमें आपेक्षिक सत्ता उस आत्मसत्ताका स्पर्श करती है उतना ही वह संतोषकी ओर अग्रसर होती है, आनन्दका स्पर्श करती है।

ब्रह्मका आत्मानन्द, तब, अपनी केवल सत्ताकी स्थाणु तथा अचल आत्मसत्तासे सीमित नहीं है। जैसे उसकी चेतनाकी शक्ति अपने-आपको अनन्तभावसे एवं अशेष वैचित्र्यके साथ रूपमें प्रक्षिप्त करनेकी क्षमता रखती है, ठीक वैसे ही उसका आत्मानन्द गतिमें, वैचित्र्यमें, अपने आपके अनन्त प्रवाह और परिवर्तनमें रमण करनेकी क्षमता रखता है, जो प्रवाह और परिवर्तन ही ये असंख्य प्राणी संकुल जगत हैं। अपने आत्मानन्दकी इस अनन्त गति और वैचित्र्यको उन्मुक्त करना और उपयोग करना ही ब्रह्मका अपनी शक्तिकी प्रसरणशील या सर्जनशील लीलाका उद्देश्य है।

दूसरे शब्दोंमें, जिसने अपने-आपको रूपोंमें प्रक्षिप्त किया है वह है एक त्रेत सच्चिदानन्द, जिसकी चेतना अपने स्वभावमें एक ऐसी सृष्टि या यों कहें कि आत्म-प्रकाशिका शक्ति है जिसमें यह क्षमता है कि वह अपनी आत्म-चेतन सत्ताके प्रपंच और रूपको अनन्त वैचित्र्य कर सके और उस वैचित्र्यके आनन्दको अशेष रूपसे भोग सके। इससे यह परिणाम निकलता है कि जिनका अस्तित्व है ऐसी समस्त वस्तुएं और कुछ नहीं, अपितु उस सत्की, उस चिन्मय शक्तिकी सत्ताके उस आनन्दकी ही अनेक अवस्थाएं हैं। जैसे हम यह पाते हैं कि समस्त वस्तुएं एक अक्षर पुरुषके क्षर रूप हैं, एक अनन्त शक्तिके सान्त परिणाम हैं, ठीक वैसे ही हम यह पावेंगे कि समस्त वस्तुएं एक स्वयंभू अस्तित्वकी, अद्वितीय, अपरिवर्तनीय और सर्वव्यापी आनन्दकी ही परिवर्तनशील आत्म-अभिव्यक्तियां हैं। प्रत्येक भूत-वस्तुमें सचेतन शक्ति निवास करती है और उस वस्तुका अस्तित्व तथा जैसी कि वह है यह सब कुछ उस सचेतन शक्तिकी बदौलत ही है, इसी प्रकार प्रत्येक भूत-वस्तुमें अस्तित्वका आनन्द है और उस वस्तुका अस्तित्व तथा जैसी कि वह है यह सब कुछ उस आनन्द [illegible]विश्वकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जो यह प्राचीन वेदान्तिक सिद्धान्त है उसका मानव मनमें तुरन्त दो विरोधियोंसे सामुख्य होता है, ये हैं दुःखके विषयका भावमय और संवेदनमय बोध और अशुभके विषयकी नैतिक समस्या। क्योंकि यह जगत् यदि सच्चिदानन्दकी आत्म-अभिव्यक्ति हो, केवल उस सत्की ही नहीं जो कि चित् शक्ति है—कारण यह केवल चिन्मय सत्की अभिव्यक्ति है इस बातको तो सहज ही स्वीकार किया जा सकता है—बल्कि उस सत्की जो अनन्त स्वात्मानन्द भी है, तब सारे संसारमें विद्यमान जो शोक, दुःख और कष्ट है वह कहांसे आया? क्योंकि यह जगत तो हमें अस्तित्वके आनन्दका जगत नहीं बल्कि दुःखका जगत् प्रतीत होता है। निश्चय ही जगतके सम्बन्धमें जो यह विचार है वह एक अतिशयोक्ति है, एक दृष्टिभ्रम है। जगत्को यदि हम अनासक्त होकर तथा इसका यथार्थ और भावावेग शून्य मूल्य आंकनेके अभिप्राय से ही देखें तो हम यह पावेंगे कि जीवनके सुखका पलड़ा जीवनके दुःखके पलड़ेसे बहुत अधिक भारी है—तब बाह्य आभासों और इक्के दुक्के लोगोंकी बात अलग है—और यह कि जीवनका सुख प्रकृतिकी साधारण अवस्था है; दुःख तो एक विपरीत घटना है जो साधारण अवस्थाको कुछ देरके लिये रोक या ढक देती है। परन्तु स्वयं इसी कारणसे सुख की अपेक्षा कम होते हुए भी दुःख हमपर अधिक तीव्रताके साथ असर करता और हमको बड़ा मालूम होता है; और चूंकि सुख हमारी साधारण अवस्था है इसलिये जब तक वह अपने किसी प्रबलतर रूपमें, अर्थात् सुखकी एक लहरमें हर्ष और आल्हादकी एक उत्तुंगतामें बढ़-चढ़कर प्रकट नहीं होता तबतक हम उसका महत्त्व नहीं समझते, यहां तक हमारी दृष्टि तक उसपर नहीं पड़ती। इन्हीं सब वस्तुओं-को, अर्थात् इन बढ़ी-चढ़ी लहरों, हर्ष और आल्हादकी इस उत्तुंगताको ही हम आनन्द मानते और इन्हीको हम चाहते हैं तथा किसी घटना, किसी विशिष्ट कारण या विषय से सर्वथा स्वतन्त्र, सदा वर्तमान, जीवनकी जो साधारण संतुष्टि है वह हमें एक ऐसी अवस्था प्रतीत होती है जो न इधरकी है न उधरकी, जो न सुखकी अवस्था है न दुःख-की। जीवनमें यह संतुष्टिकी अवस्था है, और यह एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक तथ्य है, क्योंकि इसके बिना आत्म-संरक्षणकी जो विश्वव्यापी और अभिभूतकर सहज प्रेरणा हमारे अन्दर रहती है वह न होती, तब यह वह अवस्था नहीं है जिसे हम चाहते हैं और इसलिये इसको हम अपने

भावावेगात्मक और संवेदनात्मक हानि–लाभके क्षेत्रमें नहीं जोडते। इस क्षेत्रमें हम जोडते हैं एक ओर तो केवल प्रत्यक्ष सुखोंको और दूसरी ओर समस्त असुविधाओं और दुःखों-को; दुःख हमपर अधिक तीव्रताके साथ असर करता है, क्योंकि वह हमारी सत्ताके लिये असाधारण है, हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिके विरुद्ध है और हमारे जीवनपर एक अत्याचारके रूपमें, हम जो कुछ हैं और होना चाहते हैं उस पर एक आघातके रूपमें, एक बाह्य आक्रमणके रूपमें अनुभूत होता है।

तब, दुःखका असाधारणत्व या उसके पलडेका भारी-पन या हलकापन इस विषयके दार्शनिक प्रश्नपर कोई प्रभाव नहीं डालता, कम हो या अधिक, इसकी उपस्थिति मात्र ही तो सारी समस्या है। सब कुछ जब सच्चिदानन्द है तब कष्ट और दुःखका अस्तित्व ही कैसे हो सकता है? यह वास्तविक समस्या बहुधा एक मिथ्या प्रश्नके मिश्रणसे, जिसका उद्भव एक विश्वातिरिक्त व्यक्तिगत ईश्वरकी भावना-से होता है, तथा नैतिक कठिनाई रूपी एक आंशिक प्रश्नके मिश्रणसे और भी जटिल हो जाती है।

यह कहा जा सकता है कि सच्चिदानन्द ईश्वर है, एक सचेतन पुरुष है जो जगत-जीवनका रचयिता है, तब फिर ईश्वरने एक ऐसे जगतकी सृष्टि क्योंकर की होगी जिस-में वह अपने ही प्राणियोंको सतावे, दुःखके लिये अनुमति दे, अशुभकी इजाजत दे? ईश्वर तो सर्वशुभ है, तब फिर दुःख और अशुभकी सृष्टि किसने की? यदि हम यह कहें कि दुःख एक जांच और एक अग्नि-परीक्षा है तो इससे नैतिक समस्याका समाधान नहीं होता, हम एक अनैतिक या नीति-सम्पर्क-रहित ईश्वरको प्राप्त होते हैं— जो शायद इस जगत रूपी यन्त्रका एक कुशल कारीगर है, एक चतुर मनोवैज्ञानिक है, पर मंगलमय और प्रेममय ईश्वर नहीं जिसकी हम पूजा कर सकें, वह तो केवल एक महाप्रतापी ईश्वर है जिसके विधानके आगे हमें झुकना होगा और जिसकी मनोमौजोंको एक दिन संतुष्ट करनेकी शायद हम आशा कर सकते हैं। क्योंकि जो कोई जांच या अग्नि-परीक्षाके साधन स्वरूप यन्त्रणाका आविष्कार करे वह या तो जान-बूझकर क्रूर होने या नैतिक बोध शून्य होनेका दोषी ठहरता है और यदि वह नैतिक पुरुष है भी तो अपने ही प्राणियोंके उच्चतम सहज बोधकी अपेक्षा हीन है। और इस नैतिक कठिनाईसे बचनेके लिये यदि हम यह कहें कि दुःख नैतिक अशुभका अनिवार्य परिणाम और स्वाभाविक दंड है—यद्यपि यह एक ऐसा उत्तर है जिसका जीवनके तथ्योंके साथ भी मेल नहीं बैठेगा यदि हम कर्म और पुनर्जन्मके उस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करें जो यह कहता है कि यह आत्मा पूर्वजन्मोंमें भिन्न-भिन्न शरीरोंके द्वारा किये हुए पापोंके कारण इस जन्ममें दुःख पाता है— फिरभी नैतिक समस्याका जो मूल है उससे हमारी रक्षा नहीं होती, अर्थात् कष्ट और दण्ड रूपी दुःखको लानेवाले इस नैतिक अशुभकी सृष्टि किसने की, क्यों की, और यह कहांसे सृजन की गई? यदि हम इस प्रकार देखें या स्थितिको इस प्रकार पावें कि नैतिक अशुभ वास्तवमें मानसिक व्याधि या अज्ञानका एक रूप है तब फिर इस विधान या अवश्यंभा-वी सम्बन्धकी सृष्टि किसने की जो इतने भयानक प्रत्या-घातके द्वारा, बहुधा इतनी अत्यन्त और पाशविक यन्त्रणा-ओंके द्वारा मानसिक व्याधि या अज्ञानके कर्मको दण्ड देता रहता है? कर्मके कठोर विधानका एक परम नैतिक और व्यक्तिगत ईश्वरके साथ मेल नहीं खाता, और इसी कारण-से बुद्धकी स्पष्ट युक्तिने किसी स्वतन्त्र सर्व शासक व्यक्ति-गत ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार किया, उनकी घोषणा यह हुई कि व्यक्तित्व मात्र अज्ञानकी सृष्टि है और कर्मके आधीन है।

सच तो यह है कि इस प्रकार तीव्रताके साथ सामने आई हुई यह कठिनाई केवल तभी उपस्थित होती है यदि हम एक ऐसे विश्वातिरिक्त व्यक्तिगत ईश्वरके अस्तित्वको मानें जो स्वयं यह जगत नहीं है, जिसने शुभ और अशुभकी, दुःख और कष्टकी अपने प्राणियोंके लिये सृष्टि की है, पर स्वयं इनसे परे और अप्रभावित रहता हुआ साक्षीवत् देखता रहता, शासन करता करता और इस दुःख और संघर्षमें पड़े हुए जगतके द्वारा अपनी इच्छा पूरी करता रहता है, अथवा यदि वह अपनी इच्छा पूरी नहीं करता, यदि वह अपनी सहायताके बिना या अपर्याप्त सहायताके साथ इस जगतको किसी कठोर विधानके द्वारा परिचालित होने देता है तो वह ईश्वर नहीं है, सर्वशक्तिमान नहीं है, सर्व मंगलमय और सर्व प्रेममय नहीं है। विश्वातिरिक्त नैतिक ईश्वर विषयक किसी भी सिद्धान्तके द्वारा आप अशुभ और

दुःखकी, इनकी सृष्टिका विवरण नहीं दे सकते, तब यदि आप निष्फल वाक् चातुरीके द्वारा मूल प्रश्नका उत्तर न देकर उसे टाल जाना चाहें अथवा उस + मानी धर्म जैसी मनोवृत्ति धारण करना चाहें जो ईश्वरकी प्रणालियोंको ठीक ठहराने जाकर या उसके कर्मोंके सम्बन्धमें कोई बहाना करने जाकर बहुत कुछ ईश्वरके ईश्वरत्वका ही लोप कर देता है, तो फिर बात अलग है। परन्तु यह ईश्वर वेदान्तिक सच्चिदानन्द नहीं है। वेदान्तका सच्चिदानन्द एकमेवाद्वितीय सत् है, जो कुछ है, वह ही है। तब फिर यदि अशुभ और दुःख हैं तो स्वयं सच्चिदानन्द ही इन्हें प्राणियोंके अन्दर भोगता है जिनमें उसने अपने आपको ही मूर्त किया है। अब समस्या एकदम बदल जाती है। अब प्रश्न यह नहीं रह जाता कि ईश्वरने अपने प्राणियोंके लिये एक अशुभ और दुःखकी सृष्टि क्योंकर की होगी जिसको झेलनेकी स्वयं उसमें क्षमता नहीं और इसलिये वह उससे मुक्त है, बल्कि यह कि एकमेवाद्वितीय अनन्त सत्-चित्-आनन्दने अपने अन्दर उस चीजको कैसे स्वीकार किया होगा जो आनन्द नहीं है, जो स्पष्टरूपसे आनन्दका नकार जान पड़ती है।

आधी नैतिक कठिनाई, जिस एक अखण्डनीय रूपमें यह सामने आयी थी, जाती रही। यह अब उठती ही नहीं, इसे अब उपस्थित किया ही नहीं जा सकता। दूसरों पर क्रूरता करना और मेरा मुक्त रहना अथवा परवर्ती पश्चात्ताप या विलम्बित दयाके द्वारा उनके दुःखोंमें भाग लेना भी, एक बात है; पर एकमात्र मेरा ही अस्तित्व होना और दुःखको मेरा स्वयं अपने ऊपर ही ओढ़ लेना, बिल्कुल दूसरी ही बात है। परन्तु अभी भी नैतिक कठिनाईको एक परिवर्तित रूपमें फिरसे उपस्थित किया जा सकता है। आनन्दमय जब प्रेममय और मंगलमय ही है तब सच्चिदानन्दमें अशुभ और दुःखका अस्तित्व कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो कोई यान्त्रिक सत् नहीं बल्कि स्वतन्त्र और चिन्मय पुरुष है, अशुभ और दुःखका तिरस्कार और त्याग करनेके लिये स्वतन्त्र है? हमें यह समझ लेना होगा कि इस प्रकार उपस्थित किया हुआ यह प्रश्न भी एक मिथ्या प्रश्न है, क्योंकि यह एक आंशिक कथनके शब्दोंका इस प्रकार प्रयोग करता है मानों वे समग्र विषय पर लागू होते हों। क्योंकि शुभ और प्रेमकी भावनाएं, जिन्हें इस प्रकार हम सर्वानन्दकी धारणामें ले आते हैं, वस्तुओंकी एक द्वन्द्वात्मक और विभाजनात्मक धारणासे निर्गत होती हैं; प्राणी-प्राणीके बीच जो सम्बन्ध हैं सर्वथा उन पर ही अपना आधार रखती हैं, फिर भी हम एक ऐसी समस्याको सुलझानेके लिये इनका प्रयोग करनेका हठ करते हैं जिसका आरम्भ इससे एक विपरीत भावनासे, अर्थात् उस एक अद्वितीय ब्रह्मकी भावनासे होता है जो ही सब कुछ है। पहले हमें यह देखना होगा कि भेदने अभेदात्मक एकत्वके आधारपर अपने मूल शुद्ध स्वरूपमें यह समस्या हमारे सामने किस प्रकार उपस्थित होती है और इसका समाधान कैसे हो सकता है; केवल तभी हम इसके अंशों और इसकी शाखा प्रशाखाओंके साथ, उदाहरणके लिये विभाजन और द्वन्द्वके आधार पर स्थापित प्राणी-प्राणीके बीचके सम्बन्धोंकी समस्याका समाधान निर्भ्रान्त रूपसे कर सकेंगे।

इस प्रकार यदि हम समग्र समस्याको देखें और अपने-आपको मानव-कठिनाई और मानव दृष्टिबिन्दुमें ही सीमित नहीं रखें तो हमें यह मानना होगा कि हम एक नैतिक जगतमें नहीं रहते। समग्र प्रकृति पर नैतिक अर्थको बलात् लागू करनेका जो मानव-विचारका प्रयास है वह उसके दुराग्रही और स्वेच्छाचारी आत्म-भ्रान्तिके किये हुए उन कर्मोंमेंसे एक कर्म है, समस्त वस्तुओंको अपने आपकी, अपने सीमित अभ्यस्त व्यक्तित्वकी दृष्टिसे देखने, और उनका निर्णय अपने ही बनाये हुए दृष्टिबिन्दुसे करनेके मनुष्यके उन शोचनीय प्रयासोंमेंसे एक प्रयास है जो उसे यथार्थ ज्ञान और पूर्ण दृष्टिको प्राप्त होनेसे सफलता पूर्वक भटकाते हैं। स्थूल प्रकृति नैतिक नहीं है, जो विधान इसका शासन करता है वह है बंधे हुए उन अभ्यासोंका एक समन्वय जो शुभ और अशुभकी तनिक भी परवा नहीं करते, वे तो केवल उस शक्तिको ही जानते हैं जो अपने अन्दर वर्तमान गूढ़ भगवदिच्छाके अनुसार, अपने आत्म-रूपायनों और उन रूपायनोंके कर्मोंसे होनेवाली इस इच्छाकी मूक सन्तुष्टिके अनुसार निष्पक्षभावसे तथा नीति-नियमके बिना ही सृष्टि

+ सन् २१६ में मानीने फारस देशमें अपने धर्मका प्रचार किया था। इनके मतसे यावतीय व्यापारपर पाप और पुण्यका आधिपत्य है। वे मनुष्यके शरीरको शैतानसे किन्तु उसके आत्माको ईश्वरकी ज्योतिसे प्रकट हुआ मानते थे।

करती, विन्यास एवं संरक्षण करती, विपर्यय तथा विनाश करती रहती है। पशु-प्रकृति या प्राण-प्रकृति भी नीति-सम्पर्करहित है, यद्यपि जैसे-जैसे यह आगे बढ़ती है वैसे-वैसे उस असंस्कृत पदार्थको प्रकट करती है जिसके अन्दरसे ही उच्चतर पशु नैतिक प्रेरणाका विकास करता है। जैसे कि हम आंधीको दोष नहीं देते कि वह विनाश करती है, और न अग्निको ही कि वह पीडा पहुंचाती और मार डालती है, वैसे ही हम सिंहको इसलिये दोषी नहीं ठहराते कि वह अपने आखेटको मारता और खाता है; न ही सिंह, आंधी या आगमें बसनेवाली चिन्मय शक्ति अपने आपको इन सब कृत्योंके लिये दोषी ठहराती या अपनी निन्दा करती है। दोष तथा निन्दासे ही या यों कहें कि आत्म-दूषता एवं आत्म-निन्दासे ही सच्ची नैतिकताका आरम्भ होता है। जब हम दूसरोंको तो दोष देते, पर उसी नियमको अपने आपपर लागू नहीं करते, तब हम सच्चे नैतिकन्यायके अनुसार नहीं बोलते होते, बल्कि जो कुछ हमें अप्रिय लगता या कष्ट पहुंचाता है उसके प्रति होनेवाली जुगुप्सा या घृणासे पैदा हुए अपने भावावेगके प्रति उस भाषाका प्रयोग करते हैं जिसे नैतिकताने हमारे लिये विकसित किया है।

यह जुगुप्सा या घृणा नैतिकताकी सबसे पहली जड है, पर यह स्वयं नैतिक नहीं है। सिंहसे मृगको भय होना, अपने घातकके प्रति बलवान जन्तुका रोष करना अस्तित्वके व्यक्तिगत आनन्दकी एक प्राणमय जुगुप्सा ही है उस (घातक) के प्रति जो उसपर आक्रमण करनेके लिये आता है। मनकी जब प्रगति होती है तब यह जुगुप्सा अपना परिशोधन करती है और वहांसे इसके रूप होते हैं विद्वेष, घृणा और अरुचि। जो कोई हम पर आक्रमण करनेके लिये आता और चोट पहुंचाता है उसके प्रति घृणा, जो कोई हमें प्रसन्न करता या संतोष देता है उसके प्रति अनुराग ही परिमार्जित होकर पहले तो अपने आपके प्रति समाजके प्रति, दूसरोंके प्रति, दूसरी समाजोंके प्रति शुभ और अशुभ की धारणामें परिणत होते हैं और अन्तमें इनका रूप होता है शुभके लिये साधारणतः अनुराग एवं अशुभके लिये साधारणतः घृणा। परन्तु आरम्भसे लेकर अन्ततक इस विषयका मूल स्वभाव एक ही रहता है। मनुष्य चाहता है आत्म-अभिव्यक्ति, आत्मविकास, दूसरे शब्दोंमें अपने अस्तित्वकी चिन्मय शक्तिकी अपने अन्दर प्रगतिशील क्रीडा; यही उसका मूलगत आनन्द है। जो कुछ इस आत्म-अभिव्यक्तिको, इस आत्म-विकासको, उसकी प्रगतिशील सत्ताकी संतुष्टिको चोट पहुंचाता है वह है उसके लिये अशुभ, पाप; जो कुछ उसकी सहायता करता, उसके भावको दृढ करता, उसको ऊपर उठाता, विशाल और महान बनाता है वह है उसके लिये शुभ अर्थात् पुण्य। केवल आत्म-विकासकी उसकी धारणा बदल जाती है, वह महत्तर और विशालतर हो जाती है, वह उसके सीमित व्यक्तित्वका अतिक्रमण करने, दूसरोंका आलिंगन करने, अपने क्षेत्रके अन्दर सभीका आलिंगन करने लगती है।

दूसरे शब्दोंमें, नैतिकता निवर्तन (क्रमविकास) में एक स्तर है। जो कुछ सभी स्तरोंके लिये एक सरीखा है वह है सच्चिदानन्दका आत्म-अभिव्यक्तिकी ओर आग्रह। यह आग्रह अपनी सबसे पहली अवस्थामें नीति सम्पर्क रहित है, तत्पश्चात् अर्थात् पशुमें यह अवनैतिक है और फिर बुद्धिधारी पशुमें अर्थात् मनुष्यमें तो यह नीति विरोधी तक हो जाता है, क्योंकि यह हमें इस बातके लिये अनुमति देता है कि जहां हम अपने पर किये गये आघातके प्रति असंतोष प्रकाश करते हैं वहां दूसरोंपर किये गये आघातका समर्थन करें। इस विषयमें मनुष्य आज भी नैतिक ही है। और जैसे हमारे नीचेका सब कुछ अवनैतिक है ठीक वैसे ही यह हो सकता है कि हमारे ऊपर ऐसी कोई वस्तु है—जहां हम अन्तमें पहुंचेंगे— जो अतिनैतिक है और नैतिकताकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। नैतिक प्रेरणा या भाव, जो मानव जातिके लिये इतना विशाल महत्त्व रखते हैं, केवल वह साधन है जिसके द्वारा वह अचेतना पर प्रतिष्ठित तथा प्राणके द्वारा व्यक्तिगत असंगतियोंमें शतधा खण्डित निम्नतर सामंजस्य और सार्वभौमतासे बाहर निकलकर समस्त अस्तित्वके साथ सचेतन एकत्व पर प्रतिष्ठित एक उच्चतर सामंजस्य तथा सार्वभौमताकी ओर आगे बढनेका उद्योग कर रही है। उस लक्ष्यपर पहुंच जानेके पश्चात् इस साधनकी आवश्यकता नहीं रहेगी, इसका वहां होना सम्भव भी नहीं होगा, क्योंकि जिन गुणों और विरोधों पर यह निर्भर करता है वे अन्तिम संगतिमें स्वतः विलीन और विलुप्त हो जायगे।

अस्तु, नैतिक दृष्टिबिन्दु जब एक सार्वभौमतासे दूसरी सार्वभौमतामें जानेके केवल एक तात्कालिक पर अत्यन्त महत्वपूर्ण मार्गपर ही लागू होता है तब इसका प्रयोग हम विश्वकी समस्याके समग्र समाधानके लिये नहीं कर सकते; इसे तो हम केवल उस समाधानका एक अंगही मान सकते हैं। नहीं तो एक तात्कालिक दृष्टिकोणके और वस्तुओंकी उपयोगिताके विषयकी एक अर्ध विकसित दृष्टि के साथ मेल बैठानेके लिये विश्वके समस्त तथ्योंको, हमारे पीछे और परे जो निवर्तन (क्रमविकास) है उसके सार मर्मको मिथ्या जैसी विपत्तिमें कूद पड़नेके बराबर होगा। इस जगतके तीन स्तर हैं—अवनैतिक, नैतिक तथा अति-नैतिक। हमें उस तथ्यकी खोज करनी होगी जो इन सभी स्तरोंपर साधारण रूपमें है; केवल तभी हम इस समस्याको सुलझा सकते हैं।

हमने यह देख लिया है कि जो वस्तु सभी स्तरोंपर साधारण रूपसे है वह है रूपोंमें अपने आपको विकसित करती हुई और उस विकासमें अपने आनन्दको चाहती हुई सत्‌की चिन्मय शक्ति संतुष्टि। स्पष्ट ही, इस संतुष्टि या आत्म-अस्तित्वके आनन्दसे ही उसने आरम्भ किया है, क्योंकि यही उसकी साधारण स्थिति है, इसीको वह अपना आधार बनाती और पकड़े रहती है; किन्तु वह अपने नये-नये रूपोंको खोजती है और अपने उच्चतर रूपोंको ग्रहण करनेके मार्गमें दुःख और कष्टकी घटना आ घुसती है, जो उसकी सत्ताके मूलगत स्वभावका ही विरोध करती सी जान पड़ती है। यही, केवल यही है मूल समस्या।

इसका समाधान हम कैसे करें? क्या हम यह कहें कि सच्चिदानन्द वस्तुओंका आदि और अन्त नहीं; समस्त वस्तुओंका आदि और अन्त तो कोई शून्य है, कोई निष्पक्ष रिक्तता है जो स्वयं तो कुछ नहीं है पर सत् या असत्‌की, चेतना या अचेतनाकी, आनन्द या निरानन्दकी समस्त सम्भावनाओंको धारण किये हुए है? हम चाहें तो इस उत्तरको स्वीकार कर सकते हैं; किन्तु यद्यपि इसके द्वारा हम प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें समझा देना चाहते हैं, पर वास्तवमें हमने समझाया कुछ भी नहीं, हमने तो केवल शून्यके भीतर सब कुछका समावेश कर दिया है। समस्त सम्भावनाओंसे भरपूर शून्य शब्दों और वस्तुओंका पूर्णतम विरोध है और इसलिये हमने वस्तुओंके आत्मविरोधको उसकी चरमसीमातक पहुंचाकर एक लघुविरोधको एक वृहद् विरोधके द्वारा समझाया मात्र है। शून्य है वह रिक्तता जहां सम्भावनाएं नहीं रह सकतीं; समस्त सम्भावनाओंका एक निष्पक्ष अनिर्देश्य (Indeterminate) तो संप्लव (Chaos) है, और हमने केवल यही किया है कि इस रिक्ततामें एक संप्लव (Chaos) को बैठा दिया है बिना यह बताये हुए कि अन्ततः यह वहां पहुंचा ही कैसे। इस लिये आइये हम सच्चिदानन्द सम्बन्धी अपनी मूल धारणाके पास लौट चलें कि उसके आधारपर एक पूर्णतर समाधान सम्भव है या नहीं।

पहले हमें अपने समक्ष इस बातको स्पष्ट कर लेना होगा कि जैसे जब हम विश्वव्यापी चेतनाकी बात कहते हैं तब हमारा आशय उस चेतनासे होता है जो मनुष्यकी जाग्रत मानसिक चेतनासे भिन्न है, अधिक सारभूत है, अधिक विशाल है, ठीक वैसे ही जब हम अस्तित्वके विश्व-व्यापी आनन्दकी बात कहते हैं तब हमारा आशय उस किसी वस्तुसे होता है जो व्यक्तिगत मानव-प्राणीके सामान्य उमंगमय तथा संवेदनमय सुखसे भिन्न है, है, अधिक सारभूत है, अधिक विशाल है। सुख, हर्ष और आनन्द, जिस अर्थोंमें मनुष्य इन शब्दोंका प्रयोग करता है। सीमित और नैमित्तिक गतियां हैं, जो कतिपय अभ्यस्त कारणों पर निर्भर करते हैं और अपने विरोधियों, अर्थात् दुःख और शोककी भांति ही—जो उतनी ही सीमित और नैमित्तिक गतियां हैं—अपनेसे किसी दूसरी ही पृष्ठभूमिसे निर्गत होते हैं। सत्ताका आनन्द सार्वभौम है, असीम है और स्वयं विद्यमान, स्वतः स्थित है, वह किन्हीं विशिष्ट कारणोंपर निर्भर नहीं करता, वह समस्त पृष्ठभूमियोंकी पृष्ठभूमि है और उसीमेंसे सुख और दुःखके तथा इन दोनोंके बीचके अनुभव निर्गत होते हैं। सत्ताका आनन्द जब सम्भूतिके आनन्दके रूपमें अपने आपका अनुभव करना चाहता है तब वह शक्तिकी गतिमें विचरण करता है और स्वयं ही उस गतिके उन विभिन्न रूपोंको धारण करता है, सुख और दुःख जिनके भावात्मक और अभावात्मक प्रवाह हैं। वह आनन्द जो जड़तत्वमें अवचेतन है तथा मनके परे अतिचेतन है, सम्भूतिमें, गतिके वर्धमान स्वात्म-

चैतन्यमें प्रकट होनेके द्वारा मन और प्राणमें अपने आपकी उपलब्धि करना चाहता है। इसकी पहली घटनाएं द्वन्द्वात्मक और अशुद्ध हैं, वे सुख और दुःखरूपी दो ध्रुवोंके बीच चक्कर काटती रहती हैं, पर इसका लक्ष्य है सत्ताके परम आनन्दकी एक उस विशुद्धताके भीतर अपना आत्म-प्रकाश जो स्वयंभू है और विषयों और कारणोंसे स्वतन्त्र है। सच्चिदानन्द जैसे व्यष्टिमें विश्वव्यापी जीवनको तथा शरीर-मनके रूपमें रूपोत्तर चेतनाको सिद्ध करनेके लिये अग्रसर होता है, ठीक वैसे ही वह विशिष्ट अनुभवों और विषयोंके प्रवाहमें विश्वव्यापी, स्वयंभू तथा निर्विषय आनन्दको सिद्ध करनेके लिये अग्रसर होता है। जिन विषयोंकी आज हम इसलिये कामना करते हैं कि वे एक क्षणिक सुख और संतोषके उद्दीपक कारण हैं, स्वतन्त्र और आत्मरत होनेपर हम उनकी कामना नहीं करेंगे, किन्तु वे हमारे अधिकारमें होंगे किसी चिर वर्तमान आनन्दके कारणके रूपमें नहीं अपितु उसके प्रतिबिम्बकके रूपमें।

अहंभावी मानव सत्तामें, अर्थात् स्थूलभूतके धुंधले कोशसे निकले हुए मनोमय पुरुषमें अस्तित्वका आनन्द सुखदुःखके बीचकी अवस्थामें, एक अर्द्धविस्मृत अवस्थामें है, वह अभी भी अवचेतनाके अन्धकारमें है, वह प्रचुरताका एक गुप्त क्षेत्र है जिसको वासनाने जंगली गुल्म लताओंके घने बढावसे तथा वैसे ही विषाक्त फूलोंसे ढक रखा है— ये विषाक्त गुल्मादि तथा फूल ही हैं हमारे अहमात्मक जीवनके सुख-दुःख। इसमें गुप्तरूपसे सक्रिय भागवती चित्-शक्ति वासनाके इन घने जंगलोंको अब ग्रस चुकती है, ऋग्वेदके रूपकके भावोंमें यों कहें कि देवकी अग्नि जब पृथिवीके अंकुरोंको जला चुकी होती है तब इन दुःखों और सुखोंके मूलमें जो छिपा हुआ है, जो उनका कारण और गुप्त सत्ता है, उनमें जो आनन्दका रस है वह नवीन रूपोंमें प्रकट होगा, वासनाके रूपोंमें नहीं, बल्कि स्वयंभू संतुष्टिके रूपोंमें जो नश्वर-मानव-सुखकी जगह ले आवेंगे अमरत्वके परमानन्दको। यह रूपान्तर सम्भव है, क्योंकि संवेदन और भावावेगके ये बढाव—जैसे ही दुःख वैसे ही सुख—अपनी मूल सत्तामें अस्तित्वका वह आनन्द ही हैं जिसे वे प्रकाशित करना चाहते हैं, पर जिसे प्रकाशित करनेमें वे अभी असमर्थ हैं—असमर्थ हैं विभाजन, आत्माके सम्बन्धमें अज्ञान तथा अहंकारके कारण।

शिक्षक भारत

बुखारेस्ट युनिवर्सिटीके डॉ० ओलिऑड मिरचका लिखते हैं कि—

"पूर्व प्रदीप्त तत्वज्ञान विद्याका महान् उत्पत्तिस्थान भारत है, जिसके मूलमेंसे-जिसे आज हम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान शास्त्र कहते हैं उसके-मूलतत्वोंका उदय हुआ है। तत्वज्ञान, विद्या और धर्म सम्बन्धि बहुत सी बातें यूरोपको भारतने सिखलाई हैं और मेरी धारणाके अनुसार वह समय आ पहुँचा है जब कि यूरोपियन विद्वानोंको भारतमें आकर हिन्दके महान् साहित्यिक भण्डारका मनन करना पडेगा।"

हिन्दुओंकी वीरता

श्री एम. एस. एलफिंसटनका अभिमत—

"वीरतामें हिन्दुओंने अद्भुत शौर्य बताया है। शौर्यमें वे संसारके महान् लडाकू राष्ट्रोंसे बढे चढे हैं तथा धर्म एवं वचनके लिये अपने जानकी बाजी लगनेमें वे जरा भी नहीं हिचकिचाते। दो अवसरोंपर राजाका लश्कर हार जानेपर हिन्दु सिपाही आगे बढ गये थे जिसमें एक अवसर वह था जब वे फ्रेंच लश्करके सामने लडते थे। अनेक ऐतिहासिक घटनायें सिद्ध करती हैं कि हिन्दी लश्कर अपनी आनके लिये मृत्युके मुखमें भी आगे बढते ही जाते थे।"

सच्ची उन्नतिके लिये

(लेखक— श्री १०८ स्वामी रणजितगिरिजी महाराज)

आज मानवके लिये सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना एक कठिन समस्या बन गई है। अपने चारों ओरकी विकट परिस्थितिको देखकर वह अत्यन्त क्षुब्ध होगया है। धरतीके सभी राष्ट्रोंकी यही अवस्था है। इसलिये कोई भी राष्ट्र विश्व-समस्याओंकी उपेक्षा करके केवल अपने लिये जीवित रहने, सुखी होने या समृद्ध होनेकी बात नहीं सोच सकता।

चिरवांछित स्वराज्यको प्राप्त करके हम यह आशा करते थे कि अब हमारा राष्ट्र सम्पूर्ण दुःखोंसे एकदम मुक्त हो जाएगा। हमने अपने सुख और समृद्धिकी ऊंची ऊंची कल्पनायें अपने हृदयमें संजो रखी थीं। किन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं और हम नई नई एवं विकट समस्याओंमें लगातार उलझते गये और उलझते जा रहे हैं। आखिर इसका कारण क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें निर्विवाद रूपसे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकारकी कल्पनायें करनेमें हमने भूल की है तथा इस प्रकारकी समस्याओंमें उलझ पड़नेमें भी दोष हमारा ही है। एक स्वतन्त्र नागरिकको जैसा आदर्श बनना चाहिये वैसे हम नहीं बन सके। भारतीय नागरिकके गौरवपूर्ण आदर्शोंसे हम च्युत रहे। यही आदर्शहीनता हमारी आजकी समस्याओंका मूल कारण है। हमें इनसे छुटकारा पानेके लिये अपने प्राचीन नागरिक जीवनके आदर्शोंकी ओर ध्यान देना चाहिये।

शताब्दियोंसे पददलित हम अपने राष्ट्रका नवनिर्माण करने जा रहे हैं। हमने पंचवार्षिकी योजनायें बनाई हैं, अरबों रुपये हम अपनी योजनाओंको पूर्ण करनेके लिये व्यय करते चले आ रहे हैं। इन योजनाओंके क्रमशः पूर्ण होते होते एकदिन हम अपने प्यारे देशको धरतीका स्वर्ग बना देखना चाहते हैं। वह दृश्य हम आंखोंके सामने आया हुआ देखनेके लिये उत्सुक हैं जब कि हमारी जलपूर्ण नदियाँ अमृत बहायेंगी, जब हमारे तालाब और नहरें सम्पत्तिका ओघ बहायेंगी, धरती हरा भरा सोना उगलेगी, बड़े बड़े जंगल और सुरम्य उपवन आनन्दकी हिलोरें उत्पन्न करेंगे, समुद्र पर महान् जलपोत एवं आकाशमें चमचमाते विमान तरङ्गित होंगे और हमारे लाखों गांव अन्न-जल-विद्युत् एवं आधुनिक सुखोपकरणोंसे भरे पूरे होंगे। इस प्रकार भारतकी भौतिक दरिद्रता दूर होकर वह एक सम्पत्तिशाली राष्ट्रके रूपमें अपना मस्तक ऊपर उठायेगा।

भौतिक रूपसे राष्ट्रको समुन्नत करनेका यह कार्य तो एकदिन अवश्य पूर्ण होगा ही। और हम भी चाहते हैं कि हमारा देश वैभवमें किसीसे पीछे न रहे। किन्तु इसके साथ ही एक सबसे बड़ी चिन्ताकी बात तो यह है कि इस भौतिक समुन्नतिमें यह प्राचीन एवं महान् राष्ट्र कहीं अपनी पुनीत आत्माको न खो दे। अपने इस आत्माको खोकर यदि इसे स्वर्ग भी मिल जाएगा तो वह एकदिन हानिकारक अतएव निरुपयोगी सिद्ध होगा। अतः राष्ट्रधुरीणोंको इस ओर उपेक्षा करके सच्ची सफलता एवं श्रेय कदापि नहीं मिलेगा। यह सौभाग्यकी बात है कि राष्ट्रमें आज भी ऐसे आदर्श पुरुष विद्यमान हैं जो अपने प्यारे देशकी इस आत्माको सुरक्षित रखने एवं संपुष्ट करनेमें जागरूक हैं।

प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डाली जावे तो यह विदित हो जाएगा कि हमारे इस बूढ़े भारतके जीवनमें इस प्रकारके उतार-चढ़ावके अवसर कई बार आचुके हैं। इसने विश्वविजयी सम्राटोंके अभिषेकके स्वर्णिम दिन भी देखे हैं तथा विदेशियोंसे पादाक्रान्त होकर दुःखसे भरे हुए दिन भी काटे हैं। ' उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रा अजायत ' जैसा सात्विक स्वर्णविहान भी इसके जीवनमें आचुका है तथा मुगल, पठान और अंग्रेजोंसे आक्रान्त अमाकी काली रात्रियाँ भी इसने बिताई हैं। इन सब परिस्थितियोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि जब हमने अपनी पुरातन एवं पवित्र आत्माको पूजित किया तब तब हम ऊपर उठते चले गये और जब जब हमने उसकी उपेक्षा की तब तब हमारा पतन हुआ। आज भी

हम अपनी इस उत्थानवेलामें यदि अपने प्राचीन आदर्शपर आरूढ रहेंगे तो हमारी यह भौतिक उन्नति हमें सच्चा सुख एवं शान्ति चिरस्थायी रूपेण प्राप्त करा देगी। हमारे प्राचीन आदर्शोंका प्रोज्वल स्वरूप आज भी श्रीमद्भगवद्गीता और वेदके रूपमें हमारे सामने हैं। मुसलमानोंकी कुरान और ईसाइयोंकी बाइबिलसे भी अधिक पवित्र हिन्दुओंके पास वेद और गीता है, जो मानव धर्मकी दीक्षा देती हैं।

जिन आदर्शोंको वेद और गीताने हमारे सामने रखा है वे आदर्श ही हमारे व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवनकी आत्मा है। इन्हीं आदर्शोंकी रक्षाके लिये, इसी आत्माकी परिचर्या एवं स्थिरताके लिये इस देशमें समय समयपर महान् पुरुषोंका आविर्भाव होता रहा है, मानों स्वयं भगवान् ही अवतार लेकर इन मानवी आदर्शोंकी रक्षा करते रहे हैं। यही कारण है कि सहस्रों वर्षोंके पश्चात् भी हमारे वे आदर्श अप्रतिभ रत्नदीपकी तरह सर्वथा सुरक्षित एवं पूर्णतः जीवित हैं। इन आदर्शोंको हृदयंगम करके हमने केवल अपने लिये नहीं सोचा अपितु 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानकर मानव मात्रसे भाईचारेका व्यवहार किया। हमारे आदर्श वाक्य तो यह व्यक्त करते हैं कि 'आत्मवत्सर्व-भूतेषु यः पश्यति स पश्यति' अर्थात् अपने जैसा दूसरोंको देखनेवाला ही सच्चा मनुष्य है और इसीलिये पुनः यह कह दिया है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। जो व्यवहार स्वयं अपनेको बुरा लगे उसे दूसरोंके प्रति नहीं करना चाहिये।

अपने इन आदर्शोंके प्रतिबिम्ब युगपुरुष समयपर इस पुनीत भूमिमें अवतार ग्रहण करते रहे हैं। अवतारोंकी यह परम्परा आज भी जारी है। श्री बालगंगाधर तिलक, महामना मालवीय, महात्मा गांधी, अरविन्द घोष, श्री विनोबा भावे आदिके रूपमें आज भी वह अवतार परम्परा वर्तमान है।

आज जब हम अपने स्वतन्त्र राष्ट्रका निर्माण करनेके लिये अपने कदम आगे बढाते हैं तो हमें अपने सामने अपने इन अवतारी पुरुषोंको रखना चाहिये जिनके जीवनसे हमारा देश ऊपर उठा है तथा हमें अपने प्राचीन ग्रन्थ भी सामने रखने चाहिये, जिनसे हमारे राष्ट्रका आत्मा ऊपर उठा है।

हमें अपने भौतिक अभ्युत्थानके साथ साथ आध्यात्मिक अभ्युत्थान भी करना है। अन्यथा जिस प्रकार बिना आत्माके शरीर निरर्थक है उसी प्रकार बिना आध्यात्मिक उन्नतिके भौतिक उन्नति भी अर्थहीन ही है। बलवान् आत्माके होनेपर ही हम अपने भौतिक सुखोपकरणोंका उपभोग स्वस्थतापूर्वक कर सकेंगे। अपनी इस आध्यात्मिक समुन्नतिके लिये हमें पुनः एकबार अपने वेद और गीता जैसे अमर रत्नोंको हृदयङ्गम करना होगा।

हिन्दुस्थानका धर्म

हिन्दुस्थानका शक्तिशाली धर्म संसारकी विभिन्न प्रजाओंके बीच अपनी महत्ता रखता है। रोमका विनाश होगया और आज उसका अवशेष मात्र है। ग्रीककी संस्कृति एवं साहित्य दोनों ही इजिप्त और संसारके सभी देशोंकी अपेक्षा पुरातन हैं। हिन्दुस्थानकी संस्कृति, धर्म तथा जीवित रहनेकी सुकला समस्त देशोंकी जीवनकलाकी अपेक्षा प्राचीन और श्रेष्ठ आशीर्वाद रूप है। विश्वके सभी मानवोंकी संस्कृतियाँ अस्तित्वमें आईं और नष्ट होगईं; किन्तु हिन्दुस्तानकी संस्कृति अपने मूलरूपमें पवित्र होनेके कारण अमर है। हिन्दुस्थानमें भी अन्य देशोंके समान कलह एवं अशान्तिके कार्य हुए। तथापि क्या कारण है कि उसे अपने भूत कालके स्मरण आज भी ताजे हैं और भविष्यमें भी रहेंगे ही? बात यह है कि भारतमें जिसे कि मानवका मनुष्यत्व कहा जाता है उसके बीज हैं। मतलब यह कि आसुरीभाव नहीं है। भिन्न भिन्न देशोंकी आर्य प्रजाओंमें हिन्दके आर्य सचमुच बलवान कहे जा सकते हैं।

श्रीमती एनी बेसेन्ट

तेलमें मिला रंग लगाकर अपना सौंदर्य बढाना आदि भाव यहां है।

८९. मधुघा⋯रण्वसंदृक् रोचना प्रदद्धे ।

ऋ० ३।६१।५

' मधुरताका धारण करनेवाली स्त्री रमणीय दर्शनवाली बनकर अपने तेजसे प्रकाशती रहे । ' प्रथम स्त्री ' **मधु-घा** ' अर्थात् मधुरताका धारण करे । इसके चालचलन, भाषण तथा आविर्भावमें मीठास रहे, माधुरी रहे, अर्थात् प्रेम और प्रसन्नताकी मधुरता रहे। पश्चात् वह ' **रण्व-संदृक्** ' रमणीय दर्शनवाली बने । जिसके केवल दर्शनसे ही रमणीयता और मधुरिमा टपकती रहे । देखते ही देखनेवालेके मनमें इसके विषयमें आदर भाव उत्पन्न हो। कदापि तिरस्कार न उपजे । इस तरह (रण्व-संदृक्) रमणीय दर्शनवाली स्त्री हो।

कई स्त्रियां गोरी होती है और कई काली होती हैं। गोरी स्त्रियां अपने गौर वर्णके घमंडमें काले वर्णकी स्त्रीका कदापि अपमान न करे, यह आदेश वेद दे रहा है । यहां ' **रात्री** ' काले वर्णवाली स्त्री है और ' **उषा** ' गौर वर्णवाली स्वभावतः सुन्दर है । ये दोनों बहिनें हैं और ये परस्पर प्रेमसे मिलजुल कर रहती हैं। काली-गोरी, कुरूप-सुरूप, शिक्षित-अशिक्षित ऐसी स्त्रियां परस्परका अपमान न करें । परंतु आनन्दसे प्रेमके साथ एक घरमें परस्परकी सहायता करती हुई रहें। यह बताने के लिये ये मंत्र हैं—

१८० सुपेशसा नक्तोषासा बर्हिः आसदे ।

ऋ० १।१३।७

' (नक्ता-उषासा) रात्री और उषा ये (सुपेशसा) सुन्दर बनकर यहां आये और (बर्हिः) यह आसन उनके लिये फैलाया है उसपर आरामसे बैठें । ' यहां ' **सु-पेशसा** ' सुन्दर रीतिसे सजना, सौंदर्य प्रसाधन करना, सजावट करना यह आदेश स्त्रीके लिये दिया है ।

' **पेशस्** ' का अर्थ ' सुन्दरता, मृदुता, कोमलता, कुशलता मनोहारिता ' है । ' **सु-पेशस्** ' का अर्थ इन्ही गुणोंकी परम उच्च अवस्था है । सौंदर्य और सजावटकी विशेषता करनी स्त्रीके लिये योग्य है । यहां रात्री काले रंगकी स्त्री है और उषा गौर वर्णवाली निसर्ग रमणीय स्त्री है । ये दोनों ' सु-पेशसा ' अपनी सजावट करती हैं, दोनों अपना सौंदर्य बढाती हैं। अपने आपको विशेष रमणीय और चित्ताकर्षक बनाती हैं। रात्री काली है इसलिये वह अपने काले रंगके कारण उदास नहीं है और उषा अपने गौर वर्णके घमंडमें उन्मत्त नहीं हुई है। दोनों बहिनें एक दूसरेके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव रखती हैं और परस्परका आदर करती हुई प्रेमसे रहती हैं, ऐसा ही स्त्रियोंको एक घरमें प्रसन्नता पूर्वक रहना योग्य है। उनको एक स्थानपर पास बैठना चाहिये । परस्पर मिलजुल कर रहना चाहिये । शरीरका काला रंग किसी तरह धोया नहीं जा सकता और गौर वर्णके कारण कोई स्त्री पवित्र भी नहीं बनती । अर्थात् ये बाह्य वर्ण मानवकी योग्यता न्यूनाधिक नहीं करते । मानवकी योग्यता तो उसके सद्गुणोंसे निश्चित होती है। यह जानकर अपनी आन्तरिक योग्यता सद्गुणोंके द्वारा बढानी योग्य है। बाह्य वर्णसे कोई उच्च या नीच नहीं होता । यह सबको ध्यानमें धारण करना चाहिये।

१८१ भन्दमाने सुपेशसा उषासानक्ता बर्हिः आसीदताम् । ऋ० १।१४२।७

१८२ सुरुक्मे सुपेशसा श्रिया अधि विराजतः उषासौ इह आसीदताम्। ऋ० १।१८८।६

" (भन्दमाने) प्रशंसाके योग्य (सुपेशसा) सुन्दर रूप वाली (सुरुक्मे) उत्तम अलंकार धारण करनेवाली (श्रिया अधि विराजतः) अपनी निज शोभासे शोभती हैं । ये दोनों आकर (इह बर्हिः आसीदतां) यहां आसन पर बैठें । "

ये रात्री और उषा ये दोनों स्त्रियां प्रशंसाके योग्य हैं, सुन्दर रूपसे शोभनेवाली, सुकुमार हैं, इन्होंने सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने हैं । इनकी अपनी निज सुन्दरता इन्होंने सजावटसे बढायी है । ये इस तरह अपनी सुन्दरता बढाकर यज्ञमें आजांय और इस यज्ञमें उत्तम आसनोंपर बैठें । यज्ञमें शुद्ध होकर उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर, सुन्दर बनकर जाना चाहिये ।

रात्री काले वर्णकी स्त्री है, इसने काली ही साडी पहनी है सिरपर चन्द्रका आभूषण और अपने शरीरपर नाना प्रकारके विविध तारकाओंके भूषण पहने हैं और वे विशेष चमक रहे हैं । शरीरपर नाना प्रकारके फूल धारण किये हैं। इस तरह रात्री देवी सजधज कर संपूर्ण विश्वको सुखी तथा आनन्द प्रसन्न करनेके लिये सिद्ध हुई है ।

इधर सवेरे उषा गौर वर्णवाली तरुणी अपने नाना रंगोंके वस्त्रों और आभूषणोंसे सजकर आती है। इसकी सुन्दरता इतनी विशेष होती है, कि सब विश्व इसकी ओर आश्चर्यसे देखता रहता है ।

ये दोनों स्त्रियाँ इस तरह अपना सौंदर्य बढा कर आती हैं और सबको आनन्द प्रसन्न करती हैं और अपने विषयमें बडा आदरका पूज्यभाव उत्पन्न करती हैं। देखिये इन्हीका वर्णन-

१८४ तन्वा विरूपे भन्दमाने उषसा स्मयेते ।

ऋ० ३।४।६

'ये रात्री और उषा ये दोनों स्त्रियां शरीरसे परस्पर (वि-रूपे) विरुद्ध रंगरूप वाली हैं, तथापि वे (भन्दमाने) दोनों वर्णन करने योग्य प्रशंसनीय हैं। ये दोनों यहां आकर (स्मयेते) आनन्दसे हंसती हैं।' अर्थात् यहां ये दोनों आनन्दसे रहती हैं। परस्परके विभिन्न रंगरूपके कारण परस्परका विद्वेष ये नहीं करतीं। यह बडा भारी महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां वेदमंत्र द्वारा दिया गया है। घरमें अनेक स्त्रियां होती हैं, सबकी सब सुन्दर और गोरी नहीं हो सकती। कई काली, कई गोरी, कई सुरूप, कई स्थूल, कई कृश, कई शिक्षित, कई अशिक्षित होंगी। इस तरह विभिन्नता होनेपर भी इनमें परस्पर प्रेमका बर्ताव होना चाहिये। परस्पर सहकार होना चाहिये यह सुन्दर उपदेश यहां मिलता है।

दो वेणियाँ

बालोंकी रचनाके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रसे स्पष्ट होता है कि दो वेणियां सिरमें स्त्रियां धारण करती थीं-

१९३ एषा व्येनी भवति द्विबर्हा आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥

ऋ० ५।८०।४

इस मन्त्रका द्वितीय चरण ७४ वें (ऋ० २।१२४।३) मंत्रमें ऐसा ही है। "(एषा व्येनी वि-एनी) यह स्त्री निष्पाप है, (द्विबर्हा भवति) यह स्त्री दो वेणियां [अपने सिरके बालोंकी] करती है, [अर्थात् ये दोनों वेणियां अपनी पीठपर छोड देती है,] (तन्वं पुरस्तात् आविष्कृण्वाना) अपने शरीरको आगेसे प्रकट करती है, (ऋतस्य पन्थां साधु अनु एति) सत्यके मार्गको ठीक तरह अनुसरण करती है, (प्रजानती इव दिशः न मिनाति) विदुषी स्त्रीके समान अपने कर्तव्यकी दिशामें प्रमाद नहीं करती।"

यहां जिस स्त्रीका वर्णन है वह (वि-एनी) निष्पाप है। दुष्ट कर्ममें कदापि प्रवृत्त नहीं होती, शुभ कर्म ही सदा करती है। (द्वि-बर्हा) बर्हका अर्थ शिखा है, सिरपर जो बाल आते हैं, उनका नाम बर्ह है। मोरके सिरपर जो शिखासी रहती है वह बर्ह कहलाती है, इसीलिये मोरका नाम 'बर्हिः' है। गौणभावसे मनुष्यकी शिखा, स्त्रियोंके बाल, अथवा स्त्रियोंकी वेणी ये अर्थ इस पदके होते हैं। 'द्विबर्हा' का अर्थ दो शिखाएं धारण करनेवाली है। स्त्रियां अपने बालोंकी एक या दो वेणियां करती हैं और अपने पीठपर लटकती हुई छोड देती हैं। इससे उनके शरीरकी शोभा बढती है। स्नान करनेके पश्चात् स्त्रियां इस तरह अपनी वेणियां करती हैं और धौतवस्त्र पहन कर सिरमें पुष्पमालाका या पुष्पोंका धारण करती हैं। आभूषण भी इसी समय धारण करती हैं। इस तरह सजी हुई तरुणी सुन्दर स्त्री (पुरस्तात् तन्वं आविष्कृण्वाना) आगेसे अपने शरीरको प्रकट करती है। सलज्ज स्त्री लज्जासे तो अपने शरीरको ढकना चाहती है, पर अपने सुन्दर अवयवोंको भी प्रकट करके लोगोंके चित्त अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है। यहां स्त्रीकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं है। यह तो तरुणीसे सहज ही हो जाता है अथवा उसने न किया तो भी उसकी हलचलसे उसके शरीरके अवयव लोगोंको दीखते हैं और लोगोंके नेत्र भी सहजहीसे आकृष्ट हो जाते हैं। स्त्री और पुरुष इन दोनोंकी ओरसे किसी तरह मर्यादाका उल्लंघन न होते हुए यह सहजहीसे होता है।

शरीरके अवयवोंका दर्शन

किसीको इसमें कामुकता दीखेगी, तो उसके निवारण करनेके लिये इसी मंत्रमें कहा है, (ऋतस्य पन्थां साधु अनु एति) सत्य सरल धर्मके मार्गको उत्तम रीतिसे यह अनुसरती है, किसी तरह शुद्ध धर्ममार्गसे भ्रष्ट नहीं होती। इस तरह शुद्ध धर्ममर्यादामें रहती हुई भी यह तरुणी अपने शरीरावयवोंको प्रकट करती है। कोई भी स्त्री थोडीसी हलचल करेगी तो उसके पहने वस्त्रोंमेंसे उसके विशेष शरीरावयवोंका दर्शन हो ही जाता है। सहजहीसे होनेवाली यह स्थिति है। इसलिये इसी मंत्रमें आगे कहा है कि (प्रजानती इव दिशः न मिनाति) ज्ञानवती स्त्रीके समान यह अपनी चालचलनकी दिशामें प्रमाद नहीं होने देती। धर्ममार्गसे जाती और प्रमाद नहीं करती, ऐसी स्वभावसे धर्ममें अपनी प्रवृत्ति रखनेवाली स्त्री अपने शरीरावयवोंको प्रकट करती है। यह सहज ही होता है ऐसा यहां कहा है। तथा—

१९४ एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात् ॥ ऋ० ५।८०।५

" (एषा शुभ्रा न) यह गौरवर्ण स्त्रीके समान (स्नाती इव ऊर्ध्वा) स्नान करके ऊपर आयी तरुणी जैसी (तन्वः विदाना) अपने शरीरावयवोंको बताती हुई (नः दृशये अस्थात्) हमारे सामने खडी रहती है । " वैसी यह खडी रही है ।

यहां स्वाभाविक जो घटना बनती है वही वैसी ही बतायी है । एक गौरवर्ण तरुणी है, वह नदीपर स्नान कर रही है, स्नान करके परिशुद्ध होकर ऊपर आगयी है और अपने शुद्ध वस्त्र पहन रही है । उस समय वह जैसी दीखेगी, वैसी उषा दीख रही है, ऐसा इस मंत्रका आशय है। यहा इन दोनों मंत्रोंमें (तन्वं आविष्कृण्वाना, तन्वः विदाना) अर्थात् अपने शरीरावयवोंको प्रकट करती है ऐसा कहा है । आगे यही भाव और देखिये—

६९ मातृमृष्टा योषा इव सुसंकाशा कं तन्वं दृशे आविः कृणुषे ॥ ऋ. १।१२३।११

" (मातृमृष्टा योषा इव) माताद्वारा स्नान कराकर शुद्ध हुई तरुणीके समान सुन्दर दीखनेवाली स्त्री (कं तन्वं) अपने सुन्दर शरीरको (दृशे आविः कृणुषे) दिखानेके लिये प्रकट करती है । "

तरुण स्त्रीकी माता उस अपनी पुत्रीको पतिके पास भेजनेके दिन अच्छीतरह स्नान कराती है, सब प्रकार उसको शुद्ध करती है, वह अधिक सुन्दर दीखे इसलिये सजाती है, उस समय वह तरुणी अपने शरीरावयवोंको पतिको दिखानेके लिये प्रकट करनेके समान प्रकट करती है । यहां शरीरावयवोंका प्रकट करना लिखा है। यहांका अवयवोंका प्रकट करना पतिके दिखानेके लिये है ।

छातीको दिखाना

२७ अधि पेशांसि वपते नृतूरिव अपोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् । ऋ० १।९२।४

" यह स्त्री (नृतूः इव) नाचनेवाली स्त्रीके समान (पेशांसि अधि वपते) अपने अनेक रूपोंको बनाती है और (उस्रा बर्जहं इव) गौ अपने दुग्धाशयको बतानेके समान यह तरुणी स्त्री (वक्षः अपोर्णुते) अपनी छातीको दर्शाती है । " यहां ' नृतूः ' पद नर्तन करनेवाली स्त्रीका वाचक है। स्त्रियोंके लिये नर्तन उत्तम व्यायाम है । इससे शरीर नीरोग और सुडौल हो जाता है । आजकल हमारे भारत देशमें नृत्य हीन धंदा करनेवाली स्त्रियोंमें रहनेके कारण नर्तकीका पेशा हीन हुआ है । भगवान शंकर, श्रीकृष्ण, अर्जुन ये सब नृत्यमें प्रवीण थे, तथा राजा विराटके राजमहलमें राजपुत्रियोंको नृत्य सिखानेके लिये अर्जुनको रखा गया था। इससे अनुमान हो सकता है कि, नृत्य एक उत्तम उपयोगी कला है और यह कला सब आर्योंको सीखनी चाहिये। अस्तु। नृत्यसे उत्तम व्यायाम भी होता है और शरीर सुडौल भी होता है।

नर्तन करनेवाली स्त्रीके समान यह उषा अपने रूप वारंवार बदलती है और अपना वक्षःस्थल, अपनी छाती भी वारंवार आगे निकालकर दर्शाती है । नाचनेके समय छाती आगे पीछे होती है यह नाचनेवालोंको पता है। कमर, छाती, मस्तक आगे पीछे करके ही उत्तम नाच होता है।

६८ कन्येव तन्वा३ शाशदानां एषि देवि देवमियक्षमाणम् । संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।

ऋ० १।१२३।१०

" कन्या जिस तरह (इयक्षमाणं देवं) सुख देनेवाले पति देवके पास अपने शरीरको दिखाती हुई पहुंचती है, और (संस्मयमाना युवतिः) हंसती हुई तरुणी (विभाती) चमकती हुई (वक्षांसि पुरस्तात् आविः कृणुषे) अपनी छातीके अवयवोंको प्रकट करती है। " यहां कहा है कि ' वक्षांसि आविः-कृणोति ' छातीके अंगोंको प्रकट रूपमे दिखाती है। हंसती हुई यह स्त्री ऐसा करती है, और भी देखिये–

७५ उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षः । ऋ० १।१२४।४

" स्वच्छ छाती दिखानेके समान यह स्त्री समीप दीख रही है। " तथा—

११७ भद्रा रोचमाना शुम्भमाना वक्षः आविः कृणोषि । ऋ० ६।६५।२

" कल्याण करनेवाली, चमकनेवाली, शोभायमान उषा देवी अपनी छाती प्रकट करती है। "

इस तरह अनेक मंत्रोंमें छातीको दिखानेका विषय आया है। जो स्त्रियां नाच खेलती हैं उनकी छाती इसी तरह खुलकर दीखती है। आज यह विद्या अपने अन्दर नहीं है, इसलिये आजकी स्त्रियोंमें क्षयरोगकी पीडा अधिक बढ रही है।

७८ सुवासा उशती जाया पत्ये हस्रा इव अप्सः नि रिणीते । ऋ० ११२४१७

" उत्तम वस्त्र पहनकर, पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्री पतिके पास जाती है, उस तरह यह हंसती हुई अपने सुन्दर अंगोंको प्रकट करती है । "

इस तरह स्त्री अपना सौंदर्य बढावे, वस्त्रों और आभूषणोंसे अधिक आकर्षक बने, नाचसे अपना शरीर सुडौल करे, गानसे अपना स्वर मधुर बनावे और अपने सुन्दर अवयवोंको पतिके सामने प्रकट करे। तात्पर्य स्त्रियोंको अपनी सुंदरता बढानी चाहिये। इस विषयमें स्त्रियोंके लिये उषा आदर्श है।

मार्ग दर्शन

उषा अपने प्रकाश द्वारा सबको मार्ग बताती है । इस तरह स्त्रियां स्वयं ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञानके प्रकाशसे दूसरोंको मार्ग बतावें, इस विषयके मंत्र अब देखिये-

९ नूनं दिवो दुहितरो विभातीः। गातुं कृणव-न्नुषसो जनाय ॥ ऋ० ४।५१।१

' निःसन्देह प्रकाशनेवाली स्वर्गकन्याएं ये उषाएँ लोगोंके लिये मार्ग करती हैं, मार्ग बनाती हैं, मार्ग दर्शाती है। ' जो प्रकाश देता है वह मार्ग दर्शाता ही है । तथा और भी देखिये-

१२२ पथो रदन्ती सुविताय देवी पुरुष्टुता विश्ववारा विभाती ॥ ऋ० ५।८०।३

" सबके द्वारा प्रशंसित और सबको आदर करने योग्य यह देवी स्वयं प्रकाशती हुई जनताकी सुविधाके लिये मार्ग बना देती है। " तथा—

११६ कृणोति विश्वा सुपथा सुगानि । ऋ० ६।६४।१

" सब मार्गोंको सबके जानेके लिये सुगम बनाती है। " और देखिये-

११९ सुगोत ते सुपथा पर्वतेषु । ऋ० ६।६४।४

" पर्वतोंमें भी तेरा मार्ग सुगम है। " वैसा ही-

१४७ प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः। अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥ ऋ० ७।७६।२

" हिंसा न करनेवाले और निवासक तेजोंसे सुसंस्कृत हुए देवोंके जानेके मार्ग (मे प्र अदृश्रन्) मुझे अब दीखने लगे हैं। (पुरस्तात् उषसः केतुः अभूत् उ) सामने उषाका ध्वज फहर रहा है। (प्रतीची हर्म्येभ्यः अधि आ अगात्) पश्चिम दिशाके प्रासादोंपर उषा प्रकाश डाल रही है । "

उषाका उदय पूर्व दिशामें होता है और उसका प्रकाश पश्चिम दिशाके राजमहलोंपर पडता है। और राजमार्ग इस प्रकाशसे दीखते हैं। इस तरह स्त्री स्वयं ज्ञानसंपन्न बने और दूसरोंको सन्मार्ग बतावे।

दिव्य व्रतोंका पालन

स्त्रीको दिव्य व्रतोंका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहना चाहिये इस विषयमें यह मंत्र उत्तम आदेश देता है—

१४० एते ते भानवो दर्शतायाः चित्रा उषसो अमृतास आगुः। जनयन्तो दैव्यानि व्रतानि आपृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः। ऋ० ७।७५।३

' दर्शनीय सुन्दर उषाके ये विलक्षण प्रकाश किरण आगे बढ रहे हैं, ये (अन्तरिक्षा आपृणन्तः) अन्तरिक्षको भर देते हैं और (दैव्यानि व्रतानि जनयन्तः) दिव्य व्रतोंका पालन करते रहते हैं। '

उषा अपने प्रकाश किरणोंसे चारों ओरके स्थान भर देती हैं। सर्वत्र प्रकाश भरपूर होनेके बाद दिव्य शुभ कर्मोंका प्रारंभ होता है। अन्धेरेमें कर्म नहीं होते। प्रकाशमें ही होते हैं। अन्धेरेमें असुरोंके घातपात लूट आदि कुकर्म होते होंगे जो असुरोंके हैं। दिव्य श्रेष्ठ लोगोंके दिव्य शुभ यज्ञ कर्म तो प्रकाशमें ही होते है। ये शुभ कर्म उषा अपना प्रकाश फैलाकर करवाती है। इस तरह स्त्री अपने प्रभावसे शुभ कर्म करे और करावे।

शुभ कर्म करनेकी प्रवृत्ति

स्त्रियोंको सदा शुभ कर्म करनेमें अपने आपको लगाना चाहिये। शुभ कर्म करनेसे ही जीवनका सार्थक्य हो जाता है इसलिये कहा है-

९ वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेत्योदती। वयो न किष्टे पतिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति ॥ ऋ० १।४८।६

'(या समनं विसृजति) जो मननशीलोंको शुभ कार्य करनेके लिये प्रेरित करती है। (या आर्थिनः वि सृजति) वह धन कमानेवालोंको उनके कर्म करनेके लिये भेजती है, (ओदती पदं न वेति) यह स्वयं जागती हुई एक स्थानपर ठहरती नहीं। सदा स्वयं कार्यमग्न रहती है और दूसरोंको कार्यमें लगनेके लिये प्रवृत्त कराती है। (वयः) उडनेवाले पक्षी भी उषाका प्रकाश होते ही (न आसते) एक स्थानपर बैठते नहीं।' इस तरह उषा स्वयं सवेरेसे पहिले जागती है और दूसरोंको भी जगाकर सत्कर्ममें प्रवृत्त करती है। स्त्रीको ऐसा ही करना चाहिये। तथा-

२५ उषासः वयुनानि पूर्वथा अक्रन्। ऋ० १।९२।२

'उषाएं पूर्वके समान कर्म करती रहती हैं।' सदा कर्म करनेमें तत्पर रहती हैं। स्त्रीको इसी तरह कर्ममें तत्पर रहना योग्य है। इसी तरह और भी देखिये—

२९ उच्छन्ती उषा वयुना कृणोति। ऋ० १।९२।६

'प्रकाशनेवाली उषा अनेक शुभ कर्मोंको करती है।' यह स्वयं कर्मोंको करती है और दूसरोंको भी शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त करती है। यदि कोई स्त्री स्वयं प्रभातमें न उठे, तो वह दूसरोंको कैसी उठा सकेगी, यदि वह जलदी उठकर अपने कार्य न करेगी, तो वह दूसरोंको किस तरह कर्म करनेके लिये पेरणा दे सकेगी? उषाके आदर्शसे यहां यह बताया है कि, स्त्री जलदी उषःकालके पूर्व उठे, और अपने कर्म करने लगे। इस तरह उषा स्त्रियोंको जलदी उठकर अपना कार्य करनेका आदर्श दर्शाती है।

उद्यमशीलता

स्त्री घरकी स्वामिनी है, इसलिये स्त्रीको उद्यमशील ही होना चाहिये। इसलिये कहा है—

१४१ एषा स्या युजाना पराकात् पञ्च क्षितीः परि सद्यो जिगाति। अभिपश्यन्ती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ॥

ऋ० ७।७५।४

'(एषा स्या दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी) यह वह स्वर्गकन्या सब विश्वका पालन करनेवाली (पञ्च क्षितीः युजाना) पांचों मनुष्योंको कार्यमें जोडती है और (जनानां वयुना अभिपश्यन्ती) सब मनुष्योंके कार्योंका निरीक्षण करती है। और (पराकात् सद्यः परिजिगाती) दूरसे ही शीघ्र भ्रमण करके आती है, सब देखकर आती है। सबका पर्यालोचन करती है।

यहां ज्ञानी, शूर, किसान, व्यापारी, और शिल्पी इन पांचों प्रकारके मानवोंको कर्तव्य कर्मोंमें जोड देती है, और उन सबके कार्योंका निरीक्षण करती है। ये दो कार्य कहे हैं। अपने लोगोंको कार्यमें लगाना, और उनके कार्योंकी देखभाल करना ये दो कर्तव्य स्त्रीके लिये कहे हैं। यदि घरकी गृहिणी ऐसी होगी, तो उस घरमें लक्ष्मी निवास करेगी, इसमें संदेह ही क्यों होगा? यहां उषाका वर्णन है। उषा द्यु और पृथिवीकी पुत्री है, सूर्यके साथ इसका संबंध है, अर्थात् यह बडेसे बडे देवके साथ संबंध रखनेवाली है। तो भी सबसे प्रथम उठती है, सबको कार्यमें जोड देती है और उनके कार्योंका निरीक्षण भी करती है। उषाका कुल भी अच्छा है और संबंध भी बडेके साथ हुआ है। इतना होते हुए भी वह सतत परिश्रम, उद्योग तथा शुभ कर्म करती रहती है। यह देखकर सब स्त्रियोंको उचित है कि, वे इसी तरह सतत उद्योग करें और अपने घरका ऐश्वर्य बढावें।

१६५ उषसः युक्ता विशः न यतन्ते। ऋ० ७।७९।२

'उषाएं कर्म करनेवाली प्रजाजनोंके समान प्रयत्न कर रही हैं।' अर्थात् सतत प्रयत्न करती हैं। आलसमें अपना समय व्यर्थ गमाती नहीं। प्रयत्न ही धन है, प्रयत्नसे ही उन्नति हो सकती है। सतत प्रयत्नशीलता ही उषा बता रही है।

२६ अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेनयोजनेना परावतः ॥ ऋ० १।९३।३

'(अपसः नारीः न) कर्ममें कुशल स्त्रीके समान (समानेन योजनेन) एक ही आयोजनासे (परावतः विष्टिभिः अर्चन्ति) दूरसे ही अपने किरणोंसे सुशोभित करती हैं। जिस तरह कर्ममें कुशल स्त्री अपने कौशल्यपूर्ण कर्मसे सौंदर्य बढाती है, उस तरह उषा अपनी किरणोंसे विश्वकी शोभा बढाती है। शोभा बढानेका कार्य कर्म कौशल्यसे होता है। इसलिये स्त्री इस कर्म कौशल्यको अपने अन्दर बढावे।

२०९ शुचिभ्राजाः यशस्वतीः अपस्युवः सत्याः। ऋ० १।७९।१

'शुद्ध प्रकाश देनेवाली, यशस्विनी, कर्ममें प्रवीण स्त्रियां सत्यस्वरूपी हैं।' 'अपस्यु' का अर्थ कर्ममें प्रवीण है। जो कर्ममें प्रवीण है वही यश प्राप्त करती है और वह सत्यमार्गसे अभ्युदय प्राप्त करती है।

इसलिये स्त्रियोंको उद्यमशील होना चाहिये। वे स्त्रियां शुद्ध रहें, पवित्र रहें, यश प्राप्त करें, सत्यमार्गसे जाय, कर्ममें प्रवीण और कुशल बनें। प्राविण्य प्राप्त करें, कर्म करनेमें पीछे

न रहें। कुछ योजना तैयार करके उसको अच्छी तरह निभानेका प्रयत्न करें। घर उद्योगका केन्द्र बने। घरमें धन हुआ तो भी स्त्री पुरुष उद्योग करते रहें। उद्योगी पुरुषको ही लक्ष्मी प्राप्त होती है।

वस्त्र बुननेका कार्य

स्त्रियोंको चौदह विद्याएं और चौसष्ट कलाओंमें प्रवीण होना चाहिये। परंतु कमसे कम वस्त्र बुननेका कार्य तो उनको आना ही चाहिये। वस्त्र बुनना तो घरेलु काम है और घरके लोगोंको सुखसे रहनेके लिये अत्यावश्यक है। इसलिये कहा है कि उषा वस्त्र बुनती है देखो-

१८२ साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासान-
क्ता वय्येव रण्विते। तन्तुं ततं संवयन्ती
समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती।

ऋ० २।३।६

'(नः अपांसि साधु सनता) हमारे कर्मोंको उत्तम रीतिसे संपन्न करती है, (उक्षिते वय्या इव रण्विते) स्नेहसंपन्न होती हुई कपडा बुननेवालीके समान प्रशंसनीय होकर (ततं तन्तुं समीची संवयन्ती) फैले हुए तानेको उत्तम रीतिसे समेटने वाली (सुदुघे पयस्वती) उत्तम दूध देनेवाली गौके समान (उषासा नक्ता) उषा और रात्री (यज्ञस्य पेशः) यज्ञकी सुंदरता बढाती है।'

यहां दिनरात्रीरूपी कालका वस्त्र उषा और रात्री क्रमसे आती हैं और अपना बुननेका कार्य करती हैं ऐसा कहा है। उषा और रात्री ये दोनों स्त्रियां हैं, ये क्रमसे आती हैं और अपना बुननेका कार्य करके चली जाती हैं। इस तरह घरकी स्त्रियां क्रमपूर्वक आयें, और फैलाये हुए तानेपर बानेसे वस्त्र बुननेका कार्य करें ऐसा यहां सूचित किया है। घरमें एक कमरेमें वस्त्रका ताना फैलाया रहे, घरका पुरुष ताना ठीक तरह फैलनेका कार्य करके अपने दूसरे कामको चला जाय। और जैसी जैसी फुरसत मिले, वैसी घरकी स्त्रियां आकर बुननेका कार्य करती रहें। इस तरह कपडा घरवालोंके लिये बनाया जाय। उषाके वर्णनके मंत्रसे यह उपदेश यहां मिलता है। वैदिक समयमें वस्त्र बुननेका और चर्खोपर सूत्र कातनेका कार्य ये घरेलु काम थे। तथा और देखिये-

२१७ तुभ्यमुषासः शुचयः परावति भद्रा वस्त्रा
तन्वते दंसु रश्मिषु चित्रा नव्येषु रश्मिषु।

ऋ० १।१३४।४

'(शुचयः उषासः) शुद्ध उषाएं (परावति भद्रा वस्त्रा तुभ्यं तन्वते) सुदूर आकाशमें उत्तम वस्त्रोंको फैलाती हैं (दंसु नव्येषु रश्मिषु चित्रा) दर्शनीय नवीन सुन्दर किरणोंमें अनेक रंगोंके वस्त्र (तन्वते) फैलाती हैं।' उषा आकाशमें नाना प्रकारके रंगी बिरंगी वस्त्रोंको फैलाती हैं। उस तरह घरकी स्त्री घरके वस्त्रोंको धोकर सुखानेके लिये रसीपर टांग दे। अथवा नाना रंगोंके वस्त्र बुने और दर्शानेके लिये फैलाकर रखे।

ऋणको दूर कर

घरमें स्त्री पुरुष उद्योग करके धन कमायें और यदि ऋण हुआ होगा तो, उसको दूर करे। स्त्री भी ऋणको दूर करे-

१८३ उष ऋणा इव कृष्णंतमः यातय।

ऋ० १०।१२७।७

'उषा ऋणको दूर करनेके समान अन्धकारको दूर करे।' अन्धकार यह ऋण है, उषा आती है, प्रकाश फैलाती है अन्धकार दूर करती है। इसी तरह स्त्री उद्यम करे, धन कमावे और अपने कुटुंबका ऋण दूर करनेका प्रयत्न करे। ऋण रहना नहीं चाहिये। ऋण बडा दुःखदायी है, उसको रखना नहीं चाहिये। हमने गुरुसे ज्ञान लिया है वह भी ऋषिऋण है। हमारा रक्षण सैनिक और रक्षक करते हैं, वह क्षत्रियोंका ऋण है। हम वैश्योंसे धन लेते हैं वह धनरूप ऋण है। और अन्न, जल आदि हम विश्वसे लेते हैं वह देवोंसे लेनेके कारण देव ऋण है। ये सब ऋण उतारने चाहिये। इस ऋणको दूर करनेमें पुरुष और स्त्री इन दोनोंका भाग हो। ज्ञानका प्रचार करनेसे ऋषिऋण दूर होता है, नगर रक्षण करनेमें अपना भाग देनेसे क्षत्रियोंका-पितरोंका-रक्षकोंका ऋण दूर होता है, धनसे वैश्य ऋण दूर होता है और साफ सफाई, यज्ञ आदि करनेसे देवऋण दूर होता है।

इस तरह ऋण उतारनेकी विधि है। पुरुष भी ये ऋण उतारे और स्त्री भी ऋण उतार दे। इस तरह कुटुंबके सब लोग उऋण हों और आनन्दमें रहें।

संरक्षण करनेवाली स्त्री

अपना, कुटुंबका, परिवारका और नगरका संरक्षण करनेकी विद्या सीखना आवश्यक है। जीवनमें ऐसे समय आते हैं कि, जिस समय स्त्रियोंका संरक्षण करना कठिन हो जाता है। ऐसे समयमें स्वसंरक्षण करनेकी विद्या पास रहेगी तो ही स्वसंरक्षण हो सकता है। इसलिये उषाके नामोंमें 'सर्ववीरा' नाम है। सब प्रकारके वीरभावोंसे युक्त यह उषा है। ऐसी स्त्री होनी चाहिये। अतः इसका वर्णन इस तरह मन्त्रमें होता है-

२१ सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम्।
तेन सुश्रवसं जनं प्र अव अद्य दुहितर्दिवः। ऋ० १।४९।२

'हे स्वर्गकन्ये! उत्तम सुखदायक सुंदर रथपर बैठ और उत्तम श्रेष्ठ मनुष्यका आज तू संरक्षण कर।' यहां उषा रथपर बैठती है और रथ चलाती है और युद्ध करके सबका संरक्षण करती है। रथ जोडना, रथपर बैठना और रथको चलाना आदि स्त्रियोंको भी इनमें प्राविण्य संपादन करना चाहिये। रथपर चढकर शत्रुसे लडना और अपने लोगोंका संरक्षण करना यह भी यहा स्त्री ही करती है। ऐसी वीर स्त्रियां अपने राष्ट्रमें हों।

११ विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी। अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिधः॥ ऋ० १।४८।८

'(विश्वं जगत् अस्या ननाम) सब जगत् इस स्त्रीको प्रणाम करता है। (सूनरी ज्योतिः कृणोति) यह उत्तम संचालन करनेवाली प्रकाश करती है। (मघोनी दिवः दुहिता उषा) धनवाली स्वर्गकन्या यह उषा (स्रिधः द्वेषः अप उच्छात्) हिंसक शत्रुओंको दूर करती है।' यह स्त्री ऐसी है कि सब इसको प्रणाम करते हैं, यह अपने पास धन रखती है और दुष्ट शत्रुओंको युद्ध करके दूर भगाती है। शत्रुको दूर भगा देनेकी शक्ति इसमें है, इसीलिये सब लोग इसको प्रणाम करते हैं। सब लोगोंका संरक्षण करके सबसे प्रणाम स्वीकारने वाली स्त्री हो। और देखिये—

१६ यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत।
सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददातु सुग्म्यम्॥ ऋ० १।४८।१३

'जिसके शत्रुनाशक प्रकाश कल्याण करते हैं ऐसा दीखता है, वह उषा सुंदर, सुखदायी, आदरणीय धन हमें देवे।'

उषाका तेज शत्रुका नाश करता है, और वह उत्तम धन देती है। इस तरह स्त्री शत्रुनाश करनेवाली हो और वह सुख दायक धन भी देवे। स्त्री धनकी स्वामिनी हो और अपने धनका वह सत्पात्रमें दान भी करे।

५० यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती। सुमंगलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥ ऋ० १।११३।१२

'(यावयत्-द्वेषाः) शत्रुओंको दूर करनेवाली, (ऋतपाः ऋतेजाः) सत्यका पालन करनेवाली और सत्यका पालन करनेके लिये जन्मी, (सुम्नावरी) सुख देनेवाली, (सूनृता ईरयन्ती) उत्तम भाषण करनेवाली, (सुमंगली) उत्तम कल्याण करनेवाली, (देववीतिं बिभ्रती) देवोंके लिये यज्ञका धारण करनेवाली (श्रेष्ठतमा) अत्यंत श्रेष्ठ ऐसी उषा आज यहां प्रकाशती रहे।' यहांके सब विशेषण आदर्श स्त्रीका गुण-वर्णन करनेवाले हैं। इनमें 'यावयत्-द्वेषः' शत्रुओंको दूर भगानेवाली यह विशेषण विशेष मनन करने योग्य है। शत्रुओंको दूर भगानेके लिये शूरता और वीरता चाहिये। वह स्त्रीमें रहे। यहांके 'ऋत' पदका अर्थ, सरलता, सत्य, यज्ञ, शुभ कर्म, जिसमें टेढापन नहीं ऐसा शुभकर्म है। श्रेष्ठ स्त्री वह है कि जो सबसे प्रथम शत्रुको दूर करके अपना घर सुरक्षित करती है। सत्यभाषण करती है, मधुर भाषण करती है। सदा शुभ कर्म करती है, और कभी छल कपट टेढी चाल आदिमें अपना मन डालती नहीं। सदा मंगल कामना करती है और मंगल कर्मोंको बढाती हुई सबका मंगल करती हैं।

१०६ यावयद्द्वेषसं त्वा चिकित्वित् सूनृतावरि।
प्रति स्तोमैरभुत्स्महि॥ ऋ० ४।५२।४

'तू ज्ञानी और सत्यभाषण करनेवाली है और तू शत्रुओंको दूर करती है, इसलिये स्तोत्रोंसे तेरा वर्णन हम करते हैं।' इसमें भी ज्ञान और सत्य निष्ठाके साथ शत्रुको दूर करनेकी शक्ति इस स्त्रीमें है ऐसा कहा है। तथा—

११४ द्वेषः अपबाधमाना ऋ० ५।८०।५

'द्वेष करनेवाले शत्रुओंको दूर करनेवाली' ऐसा उषाका वर्णन किया गया है। और भी—

१३८ व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाविष्कृण्वाना महिमानमागात्। अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमंगिरस्तमा पथ्या अजीगः॥ ऋ० ७।७५।१

'दिव्य उषा रक्षण करती है, (ऋतेन महिमानं आविः कृण्वाना) सत्यसे अपनी महिमाको प्रकट करती हुई आरही है, (द्रुहः अजुष्टं तमः अप आवः) द्रोह करनेवाले शत्रुको तथा अनिष्ट अन्धकारको दूर करती है और (पथ्या अजीगः) मार्गोंको बताती है।' इस मंत्रमें भी द्रोह करनेवाले शत्रुओंको भगाती है ऐसा कहा है। अपनी महिमाको प्रकट करती है। और द्रोही दुष्टोंको दूर भगाती है। स्त्रीमें ऐसी शक्ति रहनी चाहिये।

१४४ सत्या महाग्निः सत्येभिः दृळ्हानि रुजत्।
ऋ० ७।७५।७

' सत्य पालन करनेवाली यह वीर स्त्री सत्य शक्तिवाले बडे वीरोंके साथ (दृळ्हानि रुजत्) सुदृढ और सुस्थिर हुए शत्रुओंको भी नष्ट भ्रष्ट कर देती है। ' सुदृढ हुए दृढमूल हुए शत्रुओंको भी स्थानभ्रष्ट करनेका सामर्थ्य जिस स्त्रीमें है ऐसी स्त्रीका यह वर्णन है।

१५६ अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छ उर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः॥ द्वेषः यावय॥
ऋ० ७।७७।४

' (अन्तिवामा) अपने पास धन रखनेवाली यह वीर स्त्री (अमित्रं दूरे उच्छ) शत्रुको दूर भगा देवे और (उर्वीं गव्यूतिं नः अभयं कृधि) विशाल भूमिको हमारे लिये निर्भय करे। ' यह स्त्री धन अपने पास रखती है, जो स्वसंरक्षण कर सकती है वह स्त्री धन अपने पास क्यों न रखे? यह वीर स्त्री शत्रुको दूर भगाती है और अपने प्रदेशको निर्भय करती है।

इसी मंत्रमें (द्वेषः यावय) शत्रुओंको दूर कर ऐसा कहा है। यह भी मननीय है। स्त्रियां ऐसी समर्थ होनी चाहिये कि जो अपनी शक्तिसे शत्रुको दूर भगा सकती है।

१७७ सूनृतावती स्त्रिधः अप उच्छत्।
ऋ० ७।८१।६

' सत्य बोलनेवाली वीर स्त्री हिंसक शत्रुओंको दूर करे। ' इसी तरह-

११८ अस्ता शूर इव शत्रून् अपेजते।
ऋ० ६।६४।३

' शत्रुका अचूक वेध करनेवाले शूर वीरके समान यह वीर स्त्री शत्रुओंको दूर भगाती है। '

इस तरह उषा देवीके वर्णनसे स्त्रीके उत्तम शौर्य वीर्यादि शुभगुणोंका वर्णन किया है और यह बताया है कि स्त्री भी शूरा और वीरा बने, युद्ध करनेकी विद्या सीखे, पदाति युद्ध, रथयुद्ध आदि करनेकी कला हस्तगत करे। और अपने स्थानका संरक्षण करे और अपने नगरको निर्भय करे। स्त्रीको भी सामर्थ्यवान्, प्रभावशाली, शूर, वीर, युद्ध विद्यामें कुशल तथा शत्रुओंको यथायोग्य दण्ड देनेमें समर्थ बनना चाहिये। स्त्री अबला नहीं, वह स्त्री होनेपर सामर्थ्यवती भी है और सर्व रीतिसे पुरुषपर अवलंबित रहनेवाली ही नहीं है। इस तरह स्त्रीकी शूरता और वीरताका वर्णन उषा सूक्तोंमें है।

पहिले जागना

स्त्री अपने घरमें रहनेवालोंके पहिले उठे और जागे। और अन्योंको उठावे, इस प्रकारका उपदेश उषाके मंत्रोंमें मिलता है-

४३ जिह्मश्ये३ चरितवे मघोन्या भोगाय इष्टये राय उ त्वम्। दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ऋ० १।११३।५

' (जिह्मश्ये चरितवे) सोनेवालोंको घुमानेके लिये, (आभोगाय) भोगोंको प्राप्त करनेके लिये, (इष्टये राये) यज्ञ करनेके लिये तथा धन प्राप्त करनेके लिये, (दभ्रं पश्यद्भ्यः विचक्षे) जिनको कम दीखता है उनको अधिक स्पष्ट रीतिसे दिखानेके लिये धनवाली विशाल उषा (विश्वा भुवना अजीगः) सब भुवनोंको जगाती है। ' अर्थात् लोगोंको अपने अपने कार्य करानेके लिये उषा स्वयं पहिले जागती है और दूसरोंको जगाती है। इसी तरह स्त्री अपने घरमें करे। तथा और भी-

४४ क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै। विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ऋ० १।११३।६

' युद्धादि क्षात्र कर्मके लिये, अन्न प्राप्ति तथा यश प्राप्तिके लिये, बडे यज्ञ करनेके लिये, धन प्राप्त करनेके लिये और प्रगति करनेके लिये, विविध प्रकारके जीवन साधनोंको देखनेके लिये उषा सब भुवनोंको जगाती है। '

अर्थात् उषा सबसे पहिले उठती है और दूसरोंको इन कार्योंको करनेके लिये जगाती है। इसी तरह स्त्री अपने घरमें करे।

४६ जीवं उदीरयन्ती, कंचन मृतं बोधयन्ती।
ऋ० १।११३।८

' यह जीवोंको उठाती है, मरे जैसे सोनेवालोंको पुरुषार्थ करनेके लिये ज्ञान देती है। ' उठाती है; जगाती है।

४७ यन्मानुषान् यक्ष्यमाणाँ अजीगः तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः॥ ऋ० १।११३।९

' जो तू याजक मनुष्योंको अर्थात् ऋत्विजोंको जगाती है, वह कर्म देवोंमें कल्याणकारक है, ऐसा माना जाता है। ' उषा

आनेपर ही याजक उठते हैं और यज्ञ करने लगते हैं इसका यह वर्णन है।

६० विश्वस्मात् भुवनात् पूर्वा अबोधि। ऋ. १।१२३।२

' सब प्राणी उठनेके पूर्व ही यह स्त्री उठी है। ' घरमें गृहिणी सब अन्य लोग उठनेके पूर्व उठे, घरमें प्रकाश करे और कार्य करनेका प्रारंभ करे। तत् पश्चात् दूसरोंको जगा देवे। वे भी उठकर अपने अपने कार्योंका प्रारंभ करें। कोई आलसी न रहे।

७९ अप्रसत् न ससतः बोधयन्ती। ऋ० १।१२४।४

" घरमें रहनेवाली स्त्री जैसी स्वयं उठनेके बाद अन्य सोनेवालोंको जगाती है। वैसी उषा जगाती है। "

८१ प्रबोधय उषः पृणतो मघोनि
अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु। ऋ० १।१२४।१०

' हे धनवाली उषा! तू दाताओंको जगा दो। जो (अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु) जो न जागनेवाले पणी हैं वे सोते रहें, उनकी हानि होगी। यदि वे जाग उठेंगे तो उनका कल्याण होगा। '

८३ उत् ते वयः चित् वसतेः अपप्तन्
नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ। ऋ० १।१२४।१२

' पक्षी भी उषःकालमें अपनी वस्तीसे उठते हैं और उडने लगते हैं। अतः मनुष्य भी उषःकालका प्रकाश होते ही अन्न प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेके लिये उठे और प्रयत्न करने लगें। '

९४ अचित्रे अन्तः पणयः ससन्तु
अबुध्यमानास्तमसो विमध्ये। ऋ० ४।५१।३

' घने अन्धकारमें सोते रहनेवाले, और न जागनेवाले पणी अन्धकारमें पडे रहें। ' जो जगानेपर भी नहीं उठते, उनके लिये किया क्या जाय? वे पीछे रहें। उद्यमी लोग आगे बढेंगे।

९६ प्रबोधयन्तीः उषसः ससन्तं
द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्। ऋ० ४।५१।५

' ये उषायें द्विपाद और चतुष्पात् प्राणियोंमें जो सोये रहते हैं, उनको उद्यममें प्रेरित करनेके लिये जगाती हैं। '

१११ एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान् पथः
कृण्वती यात्यग्रे। बृहद्रथा बृहती।
ऋ० ५।८०।२

' यह (दर्शता) सुन्दर स्त्री लोगोंको जगाती है, मार्गोंको जाने योग्य सुगम बनाती है। स्वयं बडे रथमें बैठकर आगे जाती है। ' स्वयं आगे जाती है और दूसरोंको अपने पीछे लाती है। स्वयं उठती है दूसरोंको उठाती है। स्वयं कर्म करने लगती है और दूसरोंको कर्म करनेकी प्रेरणा करती है।

१३१ एषा मानुषीः क्षिती अजीगः। ऋ. ६।६५।१

१६९ महे सुविताय बोधि। ऋ. ७।७५।२

१६४ उषा व्यावः मानुषीः पञ्च क्षितीः बोधयन्ती।
ऋ. ७।७९।१

' यह उषा मनुष्योंके पांचों जातियोंको उठाती है। सबको जगाती है। उनका कल्याण करनेके लिये प्रकाश करती है। '

इस तरह गृहिणी अपने घरमें उषःकालमें उठे, स्वयं घरमें प्रकाश करे, दूसरोंको जगावे और कर्मके लिये उनको प्रवृत्त करे।

द्वार खोल दो

१६७ दळहस्य अद्रेः दुरः व्यौर्णोः। ऋ० ७।७९।४

' सुदृढ कीलेके द्वार खोलो ' यहां शत्रुके कीलेके द्वार खोलो ऐसा भाव है। शत्रुपर आक्रमण करो, उसका पराभव करो और उसके कीलेमें प्रवेश करो। यह वीरताका कार्य यहां स्त्री करती है।

९३ व्रजस्य तमसः द्वारा उच्छन्तीः शुचयः
पावका अव्रन्। ऋ० ४।५१।२

' गौवोंके बाडेके अन्धकारमें बंद रहे द्वार खोलो और शुद्ध प्रकाश फैलाओ। '

५९ देवी कृष्णां निर्णिजं अप आवः। ऋ. १।११३।१४

' यह देवी काले घने अन्धकारको दूर करती है, अर्थात् प्रकाश करती है।

स्त्री प्रातःकाल उठे, अपने घरमें प्रकाश करे, घरके सब द्वार देखे, गौओंके बाडेके द्वार खोले और गौओंको बाहर चरनेके लिये छोडे। इस तरह घरका काम करे।

घरमें प्रकाश करो

२३ व्युच्छन्ती– उषा प्रकाश करती है, उषा उठती है तत्पश्चात् पहिला कार्य जो वह करती है, वह है घरमें प्रकाश करना।

२३ विश्वं रश्मिभिः आभासि। ऋ १।४९।४

' अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करती है। ' अपने पासके प्रकाशसे सबको प्रकाशित करती है।

१७ विश्वस्मै भुवनाय ज्योतिः कृण्वती उषा तमः व्यावः।

' सब भुवनोंको प्रकाशित करनेके लिये प्रकाश करती है और अन्धकारको दूर करती है । '

३२ अस्य तमसः पारं अतारिष्म।

' इस अन्धकारके परे हम इसके प्रकाशसे पहुंचे हैं । '

१०८ ज्योतिषा तमः व्यावः।

' प्रकाशसे अन्धकार इसने दूर किया है । '

१६० उषादेवी विश्वा दुरिता तमांसि ज्योतिषा अपबाधमाना याति।

' उषादेवी सब गाढ अन्धकारको अपने प्रकाशसे दूर करती हुई जाती है ।

१६१ अजुष्टं तमः अपाचीनं अगात्।

' अप्रिय अन्धकार दूर भाग गया है । '

१६९ विश्वा भुवनानि आविः कृण्वन्ति।

' उषाएं सब भुवनोंको प्रकाशित करती हैं ।'

इस प्रकार अनेक मंत्रोंमें उषाके प्रकाश करनेकी बात वर्णन की है । उषा उठती है और अपने घरमें प्रथम प्रकाश करती है । प्रकाश करनेके बाद द्वार खोलती है । गोशालामें जाकर गौओंको देखती है । पश्चात् गौओंको चरनेके लिये बाहर भेजती है । इससे पूर्व दूध निकालती है । घरवाले सोते रहे तो उनको जगाती है । उनको कार्यमें लगाती है । इस तरह इस देवीका कार्य शुरू होता है । यह स्त्रीका आदर्श है । घरकी स्त्री ऐसे कार्य करे यह इसका तात्पर्य है ।

विरुद्ध रूपवाली दो बहिनें

उषा सूक्तोंमें विरुद्ध रंगरूपवाली दो बहनोंका वर्णन है । एक बहिन रात्री है, यह काली है, कुरूप है, भयानक दीखनेवाली है । दूसरी बहिन उषा है, यह गोरी है, सुंदर है, चमकदमकवाली है, वारंवार अपने वस्त्र बदलती है और अपना सौंदर्य अधिक सुंदर बनाती है । लोकमें हम देखते हैं कि गोरी स्त्री काली कुरूप स्त्रीका मान नहीं रखती । उसको हीन मानती है, उसका अपमान करती है । अपने सौंदर्यके घमण्डमें गोरी स्त्री रहती है और कालीको तुच्छ समझती है । काली बिचारी अपने काले रंगके कारण पीछे पीछे रहती है । ऐसा व्यवहार हम जगत्में देखते हैं ।

पर वेदने बताया है कि ये दोनों बहिनें परस्परके साथ मिलजुलकर रहती हैं, परस्पर प्रेम करती हैं । परस्परके विषयमें आदर रखती हैं । ऐसा ही आदर्श अपने व्यवहारमें स्त्रियोंको धारण करना चाहिये ।

६५ अपान्यदेत्यभ्यऽन्यदेति विषुरूपे अहनी संचरेते। परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचता रथेन॥ ऋ० १।१२३।७

(' विषुरूपे अहनी संचरेते) विरुद्ध रूपवाली रात्री और उषा ये दो स्त्रियां संचार करती हैं । (अन्यत् अप एति) एक चली जाती है और (अन्यत् अभि एति) दूसरी सामने आ जाती है । (परिक्षितोः अन्या) इन घूमनेवालीयोंमेंसे एक रात्रीने (तमः गुहा अकः) अन्धकारसे सबको छिपा रखा था, और दूसरी उषा (शोशुचता रथेन अद्यौत्) तेजस्वी रथसे प्रकाशती हुई चलती है । '

रात्री आती है और सब विश्वपर अन्धेरा छा देती है । भय, डर, शत्रु चोर आदिके आक्रमण इस समय होते हैं । दूसरी उषा अपने चमकदमकके साथ चमकदार रथमें बैठकर अपने प्रभावसे आती है और सबको प्रकाशित करती है, शत्रुको दूर करती है और सबको निर्भय बना देती है ।

२०४ सनात् दिवं परिभूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवैः। कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या॥ ऋ० ३।६२।८

' (विरूपे पुनर्भुवा युवती) परस्पर विरुद्ध रंगरूपवाली पुनः पुनः आनेवाली ये दो स्त्रियां (स्वेभिः एवैः) अपने सामर्थ्योंसे (सनात् दिवं भूमा परिचरतः) अनादि कालसे द्युलोक और भूलोकके मध्यमें भ्रमण करती हैं । (कृष्णेभिः अक्ता) अन्धकारसे रात्री और (रुशद्भिः वपुर्भिः उषा) तेजस्वी शरीरावयवोंसे उषा (अन्या अन्या पर्याचरत)एकके पीछे दूसरी आती है और अपना कार्य करके चली जाती है । '

दोनोंके रंगरूप विभिन्न हैं, दोनोंके कार्य भी विभिन्न हैं । पर ये अपने अपने कर्तव्यमें दत्तचित्त रहती हैं और दूसरेके कर्तव्यके क्षेत्रमें हस्तक्षेप नहीं करतीं । इस तरह इन दोनों बहिनोंका कार्य चल रहा है । इस तरह स्त्रियां अपने कार्यमें दत्तचित्त होकर रहें और दूसरेके कार्यमें हस्तक्षेप न करें । दूसरेकी कुरूपताकी निंदा न करें और अपनी सुंदरताकी घमंड

भी न करें। अपना कर्तव्य करती रहें। यह आदर्श स्त्रियोंके लिये यहां दिया गया है।

४१ स्वस्रोः अध्वा समानः अनन्तः।

' इन दोनों बहिनोंका-रात्री और उषारूप दोनोंका मार्ग एक ही है और वह अनन्त है। '

४१ देवशिष्टे अन्या अन्या तं चरतः।

' ईश्वरकी आज्ञानुसार ये दोनों बहिने एकके पीछे एक उस मार्ग परसे चलती हैं। '

४१ नक्तोषासा सुमेके विरूपे समनसा न तस्थतुः न मेथेते।

' ये रात्री और उषा दोनों परस्पर प्रेमपूर्वक परस्पर विरुद्ध रंगरूपवाली होनेपर भी (समनसा) एक मनसे कार्य करती है, (न तस्थतुः) कभी एक स्थानपर न ठहरती है, न आराम लेती हैं और (न मेथेते) परस्परका कार्य कभी बिगाडती भी नहीं। ' ये दोनों परस्पर प्रेमसे अपना अपना कार्य करती हैं। इसी तरह स्त्रियोंको परस्पर प्रेमपूर्वक रहना और कर्तव्य करना चाहिये।

७९ स्वसा ज्यायस्यै स्वस्रे योनिं आरैक्, अस्याः प्रतिचक्ष्य इव अपैति। ऋ० १।१२४।८

' यह उषा नामकी बहिन अपनी (ज्यायस्यै स्वस्रे) बडी बहिन रात्रीको (योनिं आरैक्) स्थान करके देती है। (अस्याः प्रतिचक्ष्य) इस उषाको देखकर (अप एति) वह रात्री स्वयं दूर चली जाती है। '

एक दूसरीके लिये रहनेके लिये स्थान करके देती है और स्वयं दूर चली जाती है। परस्परके प्रेमसे ऐसा किया जाता है। ऐसा प्रेम स्त्रियोंमें परस्पर रहना चाहिये। दूसरीके लिये स्थान देना और स्वयं वहांसे दूर देशमें जाना यह उदारतासे होता है। ऐसी उदारता स्त्रियोंमें रहनी चाहिये।

१०३ स्या सूनरी जनी स्वसुः परिव्युच्छन्ती।

' यह उषा उत्तम भाषण करनेवाली (जनी) पुत्रको जन्म देनेवाली (स्वसुः) अपनी बहिन रात्रीको भी प्रकाश देती है। ' जिस समय उषा आती है उस समय जो रात्री रहती है, उसको प्रकाश मिलता है। इस तरह इन दो बहिनोंमें परस्पर प्रेम है।

यहांका वर्णन आलंकारिक है। इस अलंकारसे मनुष्योंने अपने आचरणमें लानेके योग्य बोध लेना चाहिये। इसलिये यह वर्णन है।

उत्तम गृहिणी

उत्तम गृहिणीका आदर्श भी उषाके मंत्रोंमें हमें मिलता है। यह उषा ' **योषा** ' (तरुण स्त्री) के रूपमें वर्णन की गयी है-

८ सूनरी योषा उषाः आयाति।

' सत्य बोलनेवाली (सू-नरी) उत्तम नेतृत्व करनेवाली यह तरुण स्त्री उषा आ रही है। ' यहां ' सू-नरी ' शब्द है। उत्तम नेतृत्व करनेवाली, उत्तम संचालन करनेवाली यह अर्थ इस पदमें है। तथा और देखिये—

११ सूनरी ज्योतिः कृणोति।

' यह उत्तम नेतृत्व करनेवाली स्त्री प्रकाश करती है। ' यह सबसे प्रथम उठती है और अपने घरमें प्रकाश करती है। तथा-

१३ हे सूनरि ! यत् उच्छसि, त्वे हि विश्वस्य प्राणनं जीवनम्।

' हे उत्तम नेतृत्व करनेवाली स्त्री ! जब तू प्रकाशती है, तब तुम्हारे अन्दर तुम्हारे आश्रयसे ही सब विश्वका प्राण और जीवन है। ' तुम्हारे जीवनके साथ सब विश्वका जीवन जुडा हुआ है।

४२ भास्वती सूनृतानां नेत्री अचेति, चित्रा नः दुरः व्यावः।

' तेजस्विनी सत्कर्मोंका संचालन करनेवाली यह तरुणी इधर आ रही है। यह बिलक्षण सुन्दर स्त्री हमारे लिये द्वारोंको खोलती है। '

६७ ऋतस्य योषा न मिनाति धाम अहरहर्निष्कृतं आचरन्ती। ऋ० १।१२३।९

' यह तरुणी स्त्री सत्य यज्ञके स्थानोंका नाश नहीं करती और प्रतिदिन नियत कर्तव्यका आचरण करती है। ' प्रशस्त कर्म करना गृहिणीका कर्तव्य है।

२०० उषसः अर्यपत्नीः यः चकार।

' उषाओंको आर्य स्त्रियां जिसने बनाया ' अर्थात् उषाके वर्णनमें आर्य स्त्रीका आदर्श है। वह उषाके मंत्रोंमें देखना चाहिये।

६९ त्वं भद्रा वितरं व्युच्छ। ते तत् अन्या उषासः न नशन्त।

'तूं कल्याण करनेवाली तरुणी है, अतः तूं अच्छी तरह प्रकाशित हो जाओ। तेरा वह उत्तम सौंदर्य दूसरी उषाएं विनष्ट नहीं कर सकती।' तुम्हारा सौंदर्य तुम्हारे पास ही रहेगा। तुम अपना सौंदर्य बढाओ और कल्याणकारक कर्मोंको करो। यही तरुण स्त्रियोंको शोभा देनेवाला कार्य है।

७४ एषा समना दिवो दुहिता ज्योतिः वसाना पुरस्तात् प्रत्यदर्शि।

'यह शुभमनवाली स्वर्गकन्या तेजस्वी वस्त्र पहनकर सामने दिखाई दे रही है।'

८२ इयं युवतिः पुरस्तात् अव अश्वैत्।

'यह तरुणी सामने काम करने लगी है।' प्रगति करती है। अपना कार्य व्यवहार करती है। आलसमें अपना समय नहीं गमाती।

८२ अरुणानां गवां अनीकं युंक्ते।

'लाल रंगवाली गौओंके झुण्डोंको संभालती है।' गौओंकी पालना करती है। गोरक्षा करनेवाली यह तरुणी है।

११५ युवतिः ज्योतिः पूर्वथा अकः।

'इस तरुणीने पहिलेके समान ही प्रकाश किया।' अर्थात् यह तरुणी सबसे पहिले उठी और अपने घरमें इसने प्रकाश किया और यह सब जैसा यह पहिले करती थी वैसा ही इसने आज भी किया है।

१५३ युवतिः योषा न उपो रुरुचे विश्वं जीवं चरायै प्रसुवती।

'यह तरुणी तरुण स्त्रीके समान चमक रही है और सब प्राणियोंको अपने कर्म करनेके लिये प्रेरित करती है।' यह स्वयं जलदी उठती है और दूसरोंको भी अपने अपने कर्तव्य कर्म करनेके लिये प्रेरित करती है।

१७० एषा उषा नव्यं आयुः दधाना ज्योतिषा तमः अबोधि।

यह उषा नवीन तारुण्यकी आयु धारण करती है और अपने प्रकाशसे अन्धकारको जानबूझकर नाश करती है।

अर्थात् अपने घरमें प्रकाश करती है और अपने घरका अन्धेरा दूर करती है और पश्चात् कार्यकर्ताओंको उठाती है।

१७० अग्रे अहयमाणा युवतिः एति।

'लज्जा न करनेवाली तरुणी स्त्रीके समान यह तरुणी आगे बढ रही है।'

१८७ अर्किणी रूपा चित्रा प्रत्यदर्शि।

'तेजस्विनी सुंदर रूपवाली विलक्षण प्रभाववाली स्त्री सामने दीख रही है।'

१८८ सुशिल्पे दर्शते मही बृहती।

'उत्तम शिल्पक्रियामें निपुण दर्शनीय सुन्दर-बडी महत्त्ववाली यह स्त्री है।'

१८९ सुशिल्पे दिवो दुहितरा योनौ सीदताम्।

'उत्तम शिल्पकर्ममें निपुण स्वर्गीय कन्यायें अपने घरमें उत्तम आसनपर बैठती हैं।'

१९० दिव्ये योषणे सुरुक्मे शुक्रपिशं अधिश्रियं दधाने योनौ सीदताम्।

'ये दोनों दिव्य स्त्रियां उत्तम अलंकार धारण कर, शुद्ध सुंदररूप और शोभा धारण करके यज्ञस्थानमें आकर बैठें।'

२०७ सनीळाः उशन्तीः जनयः उशन्तं पतिं नित्यं न उप प्रजिन्वन्।

'एक घरमें रहनेवाली पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्रियां स्त्रीकी इच्छा करनेवाले पतिके पास जैसी सदा जाती हैं।' वैसी सुन्दर स्त्रियां अपने पतिके पास जांय।

उत्तम गृहिणीका आदर्श इस तरह उषाके मंत्रोंमें वर्णन किया है।

मातापिताकी तृप्ति

७६ पित्रोः उपस्था उभा आपृणन्ती।

'मातापिताके समीप रहकर दोनोंको सन्तुष्ट करती है।' पुत्री माता और पिताके पास रहकर उनकी सेवा करे और उन दोनोंको सन्तुष्ट करे। विवाहित हो जानेपर भी मातापिताका प्रेम न छोडे।

पिता

१९१ इन्द्रः उषसं जजान।

११८ यः उषसं जजान।

१९० उषसं साकं जजान।

इन मंत्रोंमें उषाका जनक पिता इन्द्र है, ऐसा कहा है।